आर्यसमाज के संस्थापक

A.H.W. SAHNI SERIES

महर्षि दयानन्द सरस्वती

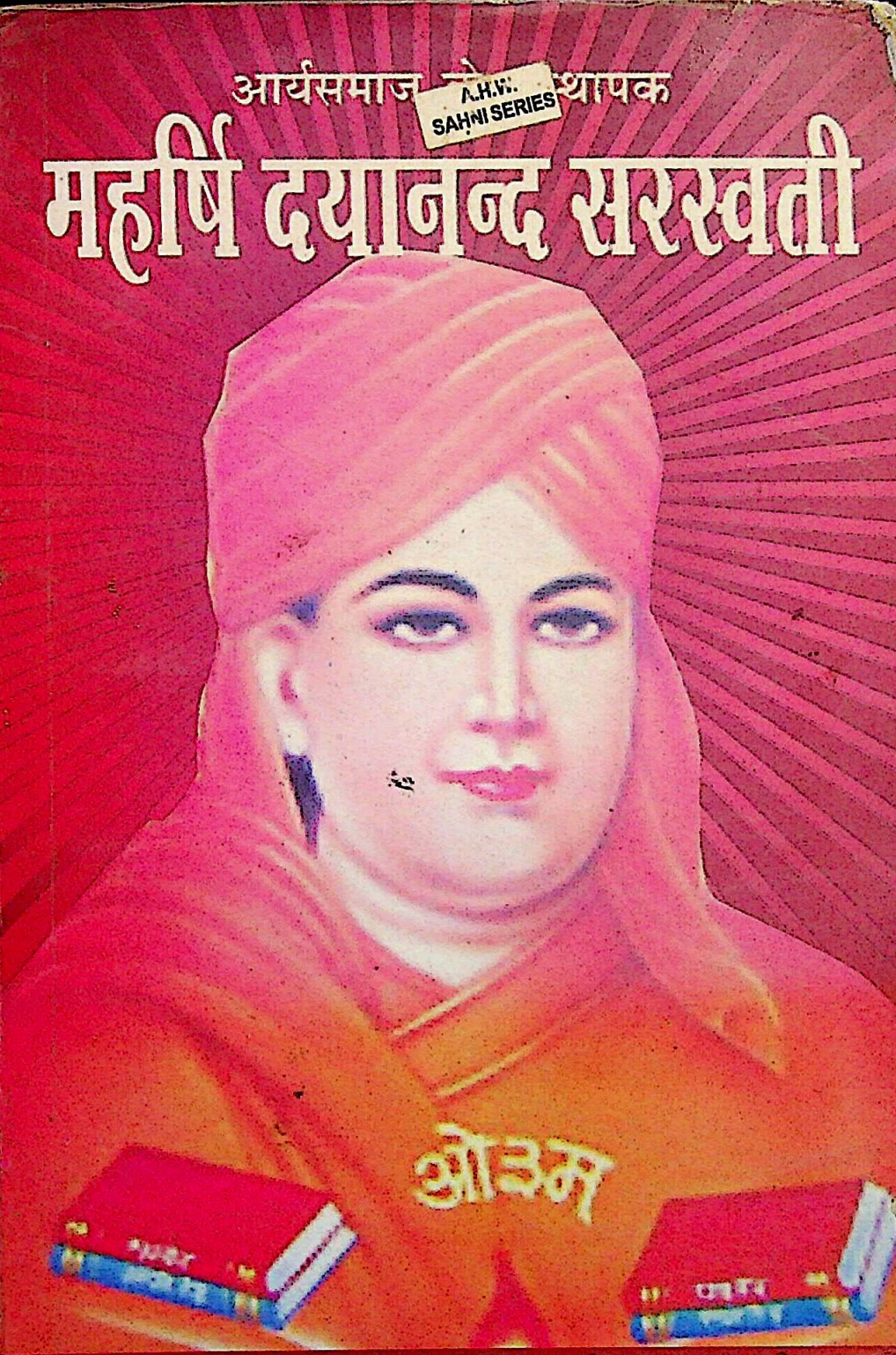

मानवता के उपासक एवं स्वराज्य के प्रथम उद्घोषक

2.1

उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने देश के पुनर्जागरण के लिए कई कार्य किये। इनमें से एक हैं, महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी, जिन्होंने 10 अप्रैल, 1875 को आर्यसमाज की स्थापना कर राष्ट्रीय पुनर्जागरण का कार्य किया। दयानन्दजी बाल ब्रह्मचारी एवं महान् योगी थे। संस्कृत, अरबी, हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान् तथा ओजस्वी वक्ता थे। महर्षि दयानन्दजी ने धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक विचारों की अज्ञान निद्रा में सोये हुए भारत को जागृत किया।

प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे ही महान् सेवक, देशभक्त व संस्कृति के उन्नायक का जीवन-चरित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

जीवनी-माला

1. यशस्वी मनीषी विवेकानन्द
2. डा० भीमराव अम्बेडकर
3. शहीद भगत सिंह
4. चन्द्रशेखर आजाद
5. सुभाषचन्द्र बोस
6. महाराणा प्रताप
7. महारानी लक्ष्मीबाई
8. छत्रपति शिवाजी
9. बाल गंगाधर तिलक
10. गोपाल कृष्ण गोखले
11. स्वातंत्र्य वीर सावरकर
12. राष्ट्रपिता महात्मा गांधी
13. रामकृष्ण परमहंस
14. जवाहर लाल नेहरु
15. इन्दिरा गांधी
16. राजीव गांधी
17. राजेन्द्र प्रसाद
18. मदर टेरेसा
19. लालबहादुर शास्त्री
20. शेर-ए-मैसूर टीपू सुल्तान
21. आर्यसमाज के संस्थापक : महर्षि दयानन्द सरस्वती
22. मिसाइल मैन अब्दुल कलाम
23. धीरूभाई अम्बानी
24. सर्वपल्ली राधाकृष्णनन
25. सरदार वल्लभभाई पटेल
26. कल्पना चावला
27. सुनीता विलियम्स
28. पृथ्वीराज चौहान

आर्यसमाज के संस्थापक

महर्षि दयानन्द सरस्वती

संकलनकर्ता
विश्म्भर दत्त गौड़

साधना पॉकेट बुक्स
रोशनआरा रोड, दिल्ली-110007

प्रकाशक
न्यू साधना पॉकेट बुक्स
70, रोशनआरा प्लाजा,
रोशनआरा रोड, दिल्ली-110007
दूरभाष: 32536004, 9350186641

एकमात्र वितरक
साहनी पब्लिकेशन्स
4777, डा० मित्रा गली,
रोशनआरा रोड, दिल्ली-110007
दूरभाष: 23822006, 23820751
Email: sahni@sahnipublications.com
Website: www.sahnipublications.com

ISBN 81-8393-189-8

संस्करण 2009

भारतीय कॉपीराइट एक्ट के तहत इस पुस्तक में प्रकाशित सामग्री के सर्वाधिकार प्रकाशक के पास सुरक्षित हैं। कोई भी व्यक्ति/संस्था/समूह आदि इस पुस्तक की आंशिक या पूरी सामग्री किसी भी रूप में मुद्रित/प्रकाशित नहीं कर सकता। इस चेतावनी का उल्लंघन करने वाले कानूनी तौर पर हर्जे-खर्चे व हानि के उत्तरदायी होंगे। सभी विवादों का न्यायक्षेत्र दिल्ली रहेगा।

मूल्य : 50/-

दो शब्द

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के लोगों का धार्मिक एवं सांस्कृति उत्थान करने वाले महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्म सन् 1824 में गुजरात के मोरवी नगर में एक समृद्ध औदीच्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। दयानन्द सरस्वतीजी का जन्म का नाम मूलशंकर था। वे अपने माता-पिता की प्रथम सन्तान थे। इनकी माताजी का नाम श्रीमती अमृताबेन तथा पिताजी का नाम श्री कर्षण तिवारी था। माता-पिता दोनों ही धार्मिक प्रवृत्ति के थे। पिताजी बहुत सारी भूमि के स्वामी और जाने-माने लेन-देन के लिए सुप्रसिद्ध सम्मानित व प्रतिष्ठित धनाढ्य जागीरदार थे।

दयानन्दजी ने भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमकर महात्मा विद्वानों और योगीजनों से मिलकर आत्मिक उन्नति और मानसिक शान्ति के उपाय तथा साधन प्राप्त किये। स्वामी दयानन्दजी बाल ब्रह्मचारी एवं महान् योगी थे। संस्कृत, अरबी, हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान् तथा ओजस्वी वक्ता थे। जातिगत, धर्मागत भेदभाव को समाप्त कर वे एक राष्ट्रीय धर्म बनाना चाहते थे। स्वामीजी ने बौद्धिक पुनरोद्धार द्वारा सामाजिक सुधार के लिए एक शक्तिशाली आन्दोलन आरम्भ किया। उन्होंने भारत के राजनैतिक दर्शन तथा संस्कृति के विकास में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्होंने आर्यसमाज का प्रवर्तन किया तथा हिन्दू समाज में प्रचलित अन्धविश्वासों एवं कुरीतियों को दूर करने के लिए काफी प्रयत्न किया।

उनका मानना था कि हिन्दू समाज कुरीतियों एवं सामाजिक बुराइयों, धार्मिक अन्धविश्वासों में डूबा हुआ है। इसे उन बुराइयों से मुक्त कराने की आवश्यकता है। भारतीय जीवन में नवचेतना का संचार करने के लिए समाज में नयी ऊर्जा का संचार किया। वे भारतीय राष्ट्र के महान् सेवक, देशभक्त व संस्कृति के उन्नायक थे। उन्होंने जाति प्रथा का घोर विरोध किया। स्वामीजी ने समाज को जातिप्रथा एवं अस्पृश्यता से मुक्त कराने के लिए समाज को

उन्नत व सशक्त बनाने पर बल दिया। उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था को कर्म पर आधारित माना, न कि जन्म पर। उन्होंने बाल-विवाह, दहेज प्रथा जैसी प्रथाओं का विरोध किया। उन्होंने विवाह के लिए लड़कों की आयु 25 वर्ष तथा लड़कियों की आयु 16 वर्ष निश्चित की। दहेज प्रथा को समाज का अभिशाप बताते हुए उसके उन्मूलन हेतू प्रयास किया। विधवाओं के पुनर्विवाह हेतु स्वामीजी ने सार्थक व सक्रिय प्रयास किये। मुसलमानों द्वारा बलपूर्वक धर्म परिवर्तन को शुद्धिकरण के माध्यम से पुनर्गठित किया। हिन्दू धर्म में वापसी के लिए धर्म शुद्धि आन्दोलन चलाया।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने नारी शिक्षा तथा उनके अधिकारों का समर्थन किया। उन्होंने पर्दा प्रथा तथा नारी शिक्षा की उपेक्षा का घोर विरोध किया। आर्यसमाज के माध्यम से कन्या स्कूल खोलने तथा स्त्री शिक्षा का प्रचार किया।

स्वामी दयानन्दजी संन्यासी एवं कर्मयोगी थे। वे भारतीय राष्ट्रवाद के प्रबल समर्थक थे। वे ऐसा बौद्धिक जागरण चाहते थे, जो आधुनिक युग के अनुरूप गुलाम भारतीयता को सब बन्धनों से मुक्त करे। उन्होंने स्वराज्य का उद्घोष करते हुए 'स्वशासन' और 'स्वराज्य' की मांग उठाई। राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करते हुए उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी का समर्थन किया।

आज स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु मानवता के लिए किये गये उनके कार्य निस्सन्देह महान् थे।

विषय-सूची

1. जन्म एवं बचपन 9
2. वैराग्य का उदय 11
3. सच्चे योगियों से योग की शिक्षा 14
4. उत्तराखण्ड में विद्वानों तथा योगियों की खोज 16
5. स्वामी विरजानन्दजी से अध्ययन 21
6. आगरा निवास 24
7. भागवत की कथा से अमंगल की भविष्यवाणी 26
8. जयपुर में दयानन्दजी 28
9. पुष्कर मेले में 30
10. पहली बार अजमेर में 34
11. परोपकार के लिए पूर्णाहुति तथा विजय का सूत्रपात 37
12. कर्णवास की घटनाएं 39
13. दयानन्दजी की हत्या करने की विफल चेष्टा 43
14. दयानन्दजी की विभिन्न यात्राएं 47
15. वेश्यागमन से मुक्ति 49
16. सात बार काशी में दयानन्दजी 52
17. मिर्जापुर में दयानन्दजी 57
18. अंग्रेज अफसर को धर्म की शिक्षा 60
19. मुंगेर और भागलपुर का वृत्तान्त 63

20. कलकत्ता और हुगली का वृत्तान्त 65
21. छपरा, अलीगढ़ और हाथरस की घटनाएं 68
22. मथुरा-वृन्दावन में सिंहनाद 71
23. इलाहाबाद में स्वामीजी 73
24. बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना 75
25. उत्तरी भारत में स्वामीजी 82
26. पंजाब में स्वामीजी 88
27. पश्चिमोत्तर प्रदेश, बिहार तथा बम्बई में धर्म-प्रचार 100
28. विभिन्न रियासतों में धर्म-प्रचार 114
29. देहावसान 117
30. दयानन्द सरस्वतीजी द्वारा रचित ग्रन्थ 127

❋❋❋

जन्म एवं बचपन

एक ऐसा समय भी आया, जब आर्यधर्म के कुछ पाखण्डी मठाधीशों से आर्य धर्म जीर्ण-शीर्ण हो गया था। आर्यों के इतिहास को अन्दर-ही-अन्दर बदला जा रहा था। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक दुर्दशा के साथ-साथ यहां की आर्थिक दरिद्रता ने देश को बिल्कुल पंगु बना दिया था। ऐसे समय में सुधार का सोचना भी अपराध था। सदियों के प्रवाह को मोड़ना तो आसान था, परन्तु धार्मिक क्षेत्र में बोलना तो खुला विद्रोह था। धन्य हैं महर्षि दयानन्द सरस्वती, जिन्होंने अपने सभी सांसारिक सुखों को त्याग कर अपने ज्ञान, तप तथा सदाचार से आर्य धर्म को नया जीवन दिया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्म सन् 1824 में गुजरात के मोरवी नगर में एक समृद्ध औदीच्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। दयानन्द सरस्वतीजी का जन्म का नाम मूलशंकर था। वे अपने माता-पिता की प्रथम सन्तान थे। दयानन्दजी के जन्म के बाद उनके दो भाई और दो बहिनें और हुईं। उनकी माताजी का नाम श्रीमती अमृताबेन तथा पिताजी का नाम श्री कर्षण तिवारी था। माता-पिता दोनों ही धार्मिक प्रवृत्ति के थे। पिताजी बहुत सारी भूमि के स्वामी और जाने-माने लेन-देन के लिए सुप्रसिद्ध सम्मानित व प्रतिष्ठित धनाढ्य जागीरदार थे।

मूलशंकर की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई थी। वे कभी स्कूल नहीं गये। उन्होंने पांच वर्ष की आयु में देवनागरी अक्षर पढ़ना आरम्भ कर दिया था। पांच वर्ष की आयु में ही उनके माता-पिता ने उन्हें कुल धर्म और उसकी रीति सिखाना आरम्भ कर दिया था। आठ वर्ष की आयु में उनका यज्ञोपवीत किया गया और उन्हें गायत्री, सन्ध्योपासना करने की विधि सिखाई गयी। उनके पिताजी शिव के भक्त थे और मूलशंकरजी को भी मिट्टी का लिंग बनाकर पूजन करने के लिए कहते थे। मूलशंकरजी जब 10 वर्ष के थे, तभी से उन्हें शिव की पार्थिव पूजा तथा शिवरात्रि में उपवास रखने को कहा गया,

जिससे वे पक्के शैव बन जायें। 14 वर्ष की आयु में मूलशंकरजी ने वेदपाठ व यजुर्वेद की संहिता कण्ठस्थ कर ली थी। मूलशंकरजी के पिताजी उन्हें अपने साथ अनेक मन्दिरों में लेकर जाते थे, जिससे कि मूलशंकरजी शिव पूजा में अपना ध्यान लगा सकें। एक बार उनके पिताजी ने उन्हें बुलाकर कहा कि बेटा शिवरात्रि आ रही है, तुम्हें उपवास रखना है, शिवमन्दिर में जाकर जागरण करना है। शिवरात्रि के दिन मूलशंकरजी अपने पिताजी के साथ शिव मन्दिर पहुंचे। पूरा दिन मन्दिर में भजन आदि होते रहे। वातावरण बड़ा भक्तिभावना पूर्ण हो रहा था। पहले और दूसरे प्रहर की पूजा के बाद धीरे-धीरे सबकी आंखों में नींद भरने लगी। मूलशंकरजी के पिताजी भी सो गये। परन्तु शिव के दर्शनों के लिए व्याकुल मूलशंकरजी उस समय अपलक शिवमूर्ति को देखते हुए अकेले जाग रहे थे।

कुछ देर बाद उन्होंने देखा कि बिल में से एक चूहा बाहर निकलकर पिण्डी के चारों ओर उछल-कूद मचाने लगा और पिण्डी के ऊपर चढ़कर अक्षतादि भी खाने लगा। यह दृश्य देखकर मूलशंकरजी के मन में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रश्न उत्पन्न होने लगे। उन्होंने सोचा कि जिस शंकर की कथा उन्हें सुनाई गयी थी क्या ये वही शिव हैं? जो शिव अपने पाशुपतास्त्र से बड़े-बड़े प्रचण्ड दैत्यों को मारते हैं, क्या वही शिव इस साधारण चूहे से अपनी रक्षा नहीं कर सकते? इस शंका ने मूलशंकरजी के हृदय में तूफान खड़ा कर दिया। सारी आस्था, निष्ठा एवं विश्वास बदल गया। उन्होंने अपने पिताजी को जगाया और उनसे अपनी शंका का निवारण करने के लिए कहा।

मूलशंकरजी की बात सुनकर पहले तो पिताजी को बहुत गुस्सा आया, बाद में उन्होंने समझाया कि शिवजी कैलाश पर रहते हैं, हम उनकी मूर्ति बना, आवाहन कर पूजन किया करते हैं। कलियुग में उनका साक्षात् दर्शन नहीं हो सकता, इसलिए पाषाणादि की मूर्ति बनाकर, उनका पूजन करने से शिवजी प्रसन्न हो जाते हैं। पिता की इन बातों से मूलशंकरजी का मन शान्त न हुआ तथा उनके मन में मूर्ति पूजा के प्रति अविश्वास जाग उठा। उन्होंने निश्चय किया कि जब मैं शिव को प्रत्यक्ष देखूंगा, तभी पूजा करूंगा, अन्यथा नहीं। इसके बाद दयानन्दजी ने घर जाकर भोजन ग्रहण किया और सो गये। उसके बाद से मूलशंकरजी अपना सारा समय विद्याध्ययन में व्यतीत करने लगे।

❑❑

वैराग्य का उदय

जब मूलशंकरजी 16 वर्ष के हुए, तो उनकी छोटी बहिन हैजे का शिकार हो गयी, जिस कारण उसकी मृत्यु हो गयी। मूलशंकरजी ने अपने जन्म से लेकर इस समय तक पहली बार मनुष्य को मरते देखा था, अत: उन्हें बहुत डर लगा। वे सोच में पड़ गये कि जितने जीव संसार में हैं, उनमें से सभी को मृत्यु आनी है, इसलिए कोई ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे जन्म-मरण रूपी दु:ख से मनुष्य छूट जाये। इस समय उनके मन में वैराग्य की जड़ जम गयी। अपनी बहिन की मृत्यु पर उन्हें रोना नहीं आया। सभी उन्हें पाषाणहृदय कहने लगे।

मूलशंकरजी जब 19 वर्ष के हुए, तब उनसे अति प्रेम करने वाले उनके धर्मात्मा चाचाजी का भी देहान्त हो गया। मूलशंकरजी सोचने लगे कि जिस प्रकार चाचाजी मरे हैं, उसी प्रकार मैं भी एक दिन मर जाऊंगा। उनके मन में पक्का वैराग्य जाग उठा तथा वे अपने माता-पिता को बताये बिना अपने मित्रों तथा विद्वान् पण्डितों से पूछने लगे कि अमर होने का कोई उपाय है या नहीं। तब उन्हें योगाभ्यास के लिए कहा गया, जिससे उनके मन में घर छोड़कर जाने का विचार उत्पन्न हो गया। यह विचार उनके मित्रों ने उनके माता-पिता को कह दिया, जिसे सुनकर उनके माता-पिता ने उनका विवाह करने का निश्चय किया और साथ ही उन्हें जमींदारी का कार्य करने के लिए कहा। एक वर्ष तक तो मूलशंकरजी कोई-न-कोई बहाना करके विवाह को टालते रहे। परन्तु जब विवाह और जमींदारी के कार्य के लिए मूलशंकरजी के मना करने पर भी उनके माता-पिता नहीं माने, तो मूलशंकरजी ने घर से चले जाने का निश्चय कर लिया।

घर में विवाह की सभी तैयारियां हो चुकी थीं कि एक दिन मूलशंकरजी चुपचाप सायंकाल को घर से निकल पड़े। उस समय उनकी आयु 22 वर्ष की थी। पहली रात्रि गांव से दूर व्यतीत की। इस तरह कई दिन जान-पहचान

वालों की नजरों से बचते हुए मूलशंकरजी निकल गये। एक दिन उनके साथ एक घटना घटित हुई। उनके पास जो भी आभूषण व रुपये थे, वे एक भिक्षुओं की टोली ने ठग लिये। उसके बाद मूलशंकरजी अहमदाबाद में आर्यसमाज कस्बा रानपुर से 11 कोस दूर एक ब्रह्मचारी के पास चले गये। उन्होंने मूलशंकरजी को ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी और उनका नाम 'शुद्ध चैतन्य' रखा। उन्हें गेरुआ कुरता पहना दिया गया तथा हाथ में एक तूंबा दे दिया गया। इस प्रकार मूलशंकरजी वहां योगसाधना करने लगे।

वहां से मूलशंकरजी 'कोट कांगड़ा' नामक एक छोटे-से कस्बे में गये। वहां उनके मन में विचार आया कि सिद्धपुर में कार्तिक का मेला लगता है, वहां बहुत सारे योगी आते हैं। उनसे अमर होने का मार्ग पूछूंगा। ऐसा विचार कर वे सिद्धपुर के मेले चल पड़े। रास्ते में उन्हें उनके गांव में रहने वाला वैरागी मिला, जो उनके पिताजी को जानता था। उसे देखकर मूलशंकरजी की आंखें भर आयीं और उन्होंने उसे अपना पूरा वृत्तान्त—पास के धानादि का ठगा जाना और साहेला ग्राम के ब्रह्मचारी के पास मुंडना और गुरुआ वस्त्र धारण करना—सुनाया। वैरागी ने उन्हें घर छोड़ने पर बुरा-भला कहा। मूलशंकरजी ने उन्हें कार्तिक के मले पर सिद्धपुर जाने का भी कह दिया।

वैरागी ने जाकर मूलशंकरजी के पिताजी के पास एक पत्र भेजा कि तुम्हारा लड़का कषायवस्त्र धारण किये ब्रह्मचारी बना हुआ यहां मुझको मिलकर कार्तिक मेले में सिद्धपुर गया है। यह सुनकर उनके पिताजी चार सिपाहियों सहित सिद्धपुर पहुंच गये। वहां पहुंचकर उन्होंने मूलशंकरजी की खोज आरम्भ कर दी। एक दिन मूलशंकरजी का सामना अपने पिता और उन सिपाहियों से हो गया। पिताजी ने उन्हें बहुत धिक्कारा और क्रोध किया। मूलशंकरजी पिता के क्रोध का सामना न कर सके और उनके पैरों पर गिर पड़े। पिता के क्रोध के डर के कारण उन्हें अपने पिता से झूठ बोलना पड़ा कि कुछ धूर्त लोगों के बहकावे में आकर उन्होंने बहुत दुःख झेला और यह ब्रह्मचर्य अपनाया। इस पर भी पिताजी का क्रोध शान्त न हुआ और उन्होंने मूलशंकरजी के गेरुए वस्त्र फाड़ डाले और नये सफेद वस्त्र धारण कराकर जहां वह ठहरे थे, अपने साथ ले गये।

रात को वहां मूलशंकरजी के ऊपर पहरा लगा दिया गया, परन्तु मूलशंकरजी तो अन्दर-ही-अन्दर भागने का उपाय सोचने लगे; क्योंकि वह

ब्रह्मचर्य का दृढ़ निश्चय कर चुके थे। दो रात्रि बीतने पर तीसरी रात्रि उन्हें भागने का अवसर मिल गया। तीसरी रात्रि तीन बजे वे लघुशंका का बहाना बनाकर बगीचे के मन्दिर के शिखर में एक वटवृक्ष के सहारे चढ़कर जल का लोटा साथ लेकर छिपकर बैठ गये। सिपाही और वहां के माली उन्हें ढूंढ़ने लगे। खोजते-खोजते जब वे निराश हो गये, तो वे लोग वहां से लौट गये। अगले दिन अंधेरा होने पर वे वृक्ष से उतरे और दो कोस दूर एक गांव में जाकर ठहरे। अगले दिन प्रातःकाल वे वहां से चल दिये। यह शायद उनकी अपने परिवार वालों से अन्तिम भेंट थी। इसके बाद एक बार प्रयाग में भी उनके गांव के कुछ व्यक्ति मिले, परन्तु मूलशंकरजी ने उन्हें अपनी पहचान नहीं दी।

❑❑

सच्चे योगियों से योग की शिक्षा

अहमदाबाद से होते हुए मूलशंकरजी बड़ौदा नगर पहुंचे। वहां उन्होंने चेतनमठ में ब्रह्मचारियों और संन्यासियों से वेदान्त विषय पर चर्चा की। उन ब्रह्मानन्द आदिक ब्रह्मचारियों और संन्यासियों से उन्हें पता चला कि ब्रह्म हम से कुछ पृथक् नहीं है। यहीं मूलशंकरजी को वेदान्तशास्त्र अच्छी तरह समझ में आ गया।

बड़ौदा से मूलशंकरजी नर्मदा तट पर बड़े-बड़े विद्वानों की एक सभा में गये, जहां उन्होंने सच्चिदानन्द परमहंस से भेंट की और अनेक प्रकार की शास्त्रविषयक बातों पर चर्चा की। उनसे पता लगने पर कि चाणोद कन्याली में बड़े विद्वान् ब्रह्मचारियों और संन्यासियों की एक मण्डली रहती है, मूलशंकरजी वहां चले गये। वहां पहुंचकर उन्होंने सच्चे दीक्षित विद्वानों, चिदाश्रम आदि स्वामी-संन्यासियों और कई एक ब्रह्मचारियों, पण्डितों से भेंट की। इसके बाद वे परमानन्द नामक परमहंस के शिष्य बन गये और कुछ ही महीनों में उन्होंने वेदों और दर्शन-शास्त्र की पुस्तकों का अध्ययन कर लिया।

चूंकि अभी तक मूलशंकरजी ब्रह्मचारी थे, इसलिए उन्हें अपना भोजन स्वयं बनाना पड़ता था, जिससे उनके अध्ययन में बाधा पड़ती थी। इन सबसे छुटकारा पाने के लिए मूलशंकरजी ने संन्यासाश्रम की चतुर्थ श्रेणी में प्रविष्ट होने का विचार किया। अनेक परम-दीक्षित संन्यासियों ने उनकी नवयौवनावस्था को देखते हुए दीक्षा देने से इनकार कर दिया, परन्तु मूलशंकरजी ने हिम्मत नहीं छोड़ी। इस समय उनकी उम्र 24 वर्ष थी। एक दिन दक्षिण से एक दण्डी स्वामी और एक ब्रह्मचारी चाणोद ग्राम से दो मील की दूरी पर आकर ठहरे। दोनों ही ब्रह्मविद्या में प्रवीण थे। उनकी प्रशंसा सुनकर मूलशंकरजी अपने मित्र दक्षिण पण्डित के साथ उनसे मिलने गये। संन्यासीजी का नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। मूलशंकरजी ने उन संन्यासियों से आग्रह किया कि मेरे मित्र को ब्रह्मविद्या की दीक्षा दीजिये, परन्तु उन्होंने भी मूलशंकरजी की यौवनावस्था

को देखते हुए इनकार कर दिया। मित्र के बार-बार आग्रह करने पर पूर्णानन्दजी ने श्राद्धादि कराकर चौबीस वर्ष की अवस्था में संन्यास से दण्ड ग्रहण कराया और मूलशंकरजी का नाम 'दयानन्द सरस्वती' रखा। पूर्णानन्दजी की आज्ञा से दयानन्दजी ने दण्डस्थापन कर दिया। फिर वे कुछ समय तक चाणोद कन्याली में ही ठहरे।

एक दिन दयानन्दजी ने सुना कि व्यासाश्रम में योगानन्द नामक स्वामी रहते हैं, जो योगविद्या में निपुण हैं। वे शीघ्र ही उनके पास पहुंच गये और उनसे योगविद्या पढ़ने लगे। योगविद्या पढ़कर दयानन्दजी चित्तौड़ नगर गये। वहां उन्होंने कृष्णशास्त्री चितपावन दक्षिणी ब्राह्मण से व्याकरण का अभ्यास किया। तत्पश्चात् दयानन्दजी पुनः चाणोद कन्याली लौट आये और वहां उन्होंने राजगुरु से वेदों की शिक्षा ग्रहण की। चाणोद कन्याली में उनकी भेंट ज्वालानन्दपुरी और शिवानन्द गिरि नामक योगियों से हुई, जिनके साथ उन्होंने योग का साधन किया। फिर वे दोनों योगी दयानन्दजी से एक महीने पश्चात् अहमदाबाद के पास दुग्धेश्वर महादेव के मन्दिर में आने के लिए कह कर अहमदाबाद चले गये। एक महीने बाद दयानन्दजी भी दुग्धेश्वर महादेव मन्दिर चले गये। वहां उन दोनों योगियों ने दयानन्दजी को योग विद्या के अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वों और उसके प्राप्त करने की विधि से अवगत कराया। अब दयानन्दजी योगविद्या और उसकी साधनक्रिया में निपुण हो गये थे।

उसके पश्चात् दयानन्दजी ने राजपूताने में आबू पर्वत की चोटियों पर बड़े-बड़े योगिजनों से विशेष योगसाधना के सूक्ष्म तत्त्वों को ग्रहण किया।

❑❑

उत्तराखण्ड में विद्वानों तथा योगियों की खोज

इस प्रकार दयानन्दजी भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमकर महात्मा विद्वानों और योगीजनों से मिलकर आत्मिक उन्नति और मानसिक शान्ति के उपाय तथा साधन प्राप्त करते रहे। इस प्रकार अनेक महात्माओं का सत्संग करते हुए 30 वर्ष की अवस्था में हरिद्वार के कुम्भ मेले में पहुंचे। वहां उन्होंने अनेक साधु-संन्यासियों के साथ रहकर योगाभ्यास किया। मेला समाप्त होने पर वे ऋषिकेश चले गये। वहां उन्हें कुछ साधु मिले, जिनके साथ वे टिहरी चले गये।

विद्या की वृद्धि के कारण टिहरी साधुओं और राजपण्डितों से पूर्ण और प्रसिद्ध था। इन पण्डितों में से एक पण्डित ने दयानन्दजी को अपने यहां आने का निमन्त्रण दिया, जिसे स्वीकार कर दयानन्दजी उनके स्थान पर पहुंचे। वहां पहुंचकर उन्होंने पण्डितों को मांस काटते, उसका भक्षण करते, मांस और अस्थियों के ढेर तथा पशुओं के भुने हुए सिरों पर काम करते देखा। यह दृश्य देखकर दयानन्दजी उलटे पांव वहां से अपने स्थान की ओर चल दिये। थोड़े समय पश्चात् वही पण्डित फिर दयानन्दजी के पास आया और उनसे मांस भक्षण करने का आग्रह करने लगा। दयानन्दजी ने उससे कहा कि मेरे योग्य तो केवल फलादि हैं। यदि आप मुझे निमन्त्रित करना चाहते हैं, तो कुछ अन्न और फलादि वस्तु भिजवा दीजिये, मेरा ब्रह्मचारी यहां पर भोजन बना लेगा। पण्डित लज्जित होकर वहां से लौट गया।

तत्पश्चात् दयानन्दजी ने कुछ दिन टिहरी में ही निवास किया। उस पण्डित ने दयानन्दजी को ज्योतिष और तन्त्रादि पुस्तकें पढ़ने के लिए दीं। पुस्तकों में अत्यन्त अश्लील बातों, झूठे भाष्यों और बेहूदा वाक्यों को पढ़कर दयानन्दजी का मन घबरा गया। वे वहां से श्रीनगर को चल दिये और वहां वे केदारघाट पर एक मन्दिर में रहने लगे। वहां उनकी मित्रता गंगागिरी नामक एक साधु से हो गयी। वे दोनों योगविद्या तथा अन्य उत्तमोत्तम विषय पर

आपस में बातचीत करते हुए दो मास तक वहां इकट्ठे रहे। तत्पश्चात् दयानन्दजी अपने साथियों अथवा ब्रह्मचारी तथा पहाड़ी साधुओं सहित केदारघाट से रुद्रप्रयाग आदि स्थानों से होते हुए अगस्त्यमुनि की समाधि पर पहुंचे।

आगे चलकर वे शिवपुरी नामक प्रसिद्ध पर्वत पर गये और वहां शीत ऋतु के चार मास व्यतीत किये। तत्पश्चात् वहां से दयानन्दजी अकेले ही केदारघाट लौट आये। फिर गौरीकुण्ड और भीमगुफा होते हुए त्रियुगीनारायण के मन्दिर पहुंचे, फिर वापस केदारघाट लौट आये। वहां उन्होंने अपने साथियों के आने तक निवास किया। केदारघाट में रहकर दयानन्दजी को वहां का अच्छा परिचय प्राप्त हो गया। तब दयानन्दजी के मन में हिमाच्छादित पर्वतों पर भ्रमण करने की इच्छा हुई तथा उन महात्माओं से मिलने की भी इच्छा हुई, जिनके बारे में सुना तो था, परन्तु कभी दर्शन नहीं किये थे। इस प्रकार वे दृढ़निश्चय करके पर्वतीय लोगों से उनके बारे में पूछते हुए आगे बढ़े, परन्तु किसी को भी उन साधुओं की सही जानकारी नहीं थी। 20 दिन की कठिन यात्रा कर दयानन्दजी वापस आ गये।

तत्पश्चात् वे तुंगनाथ की चोटी पर चढ़े, जहां एक मन्दिर पुजारियों और मूर्तियों से भरा था। दयानन्दजी वहां से चले आये। आगे चलकर उन्हें दो मार्ग दिखाई दिये। एक मार्ग पश्चिम को जाता था और दूसरा नैऋत्य को। दयानन्दजी जंगल की ओर जाने वाले रास्ते पर चल पड़े। कुछ समय चलने के बाद उन्हें रास्ता नहीं मिला। काफी समय तक इधर-उधर भटकने के बाद उन्हें पहाड़ी से नीचे की ओर एक मार्ग दिखा और वह उसी पर चलकर कुछ पर्वतीय लोगों के झोपड़ों पर गये, जहां उन्हें ज्ञात हुआ कि यह मार्ग ओखीमठ को जाता है। यह सुनकर दयानन्दजी उस ओर चल पड़े और उन्होंने रात ओखीमठ में व्यतीत की। प्रातः वहां से वह गुप्तकाशी लौट गये।

परन्तु इस यात्रा की लालसा दयानन्दजी को पुनः ओखीमठ ले गयी। वहां पहुंचकर दयानन्दजी ने अच्छी तरह से ओखीमठ को देखा और समझा, परन्तु यहां भी बाहरी आडम्बर करने वाले पाखण्डी साधुओं का जमघट था। ओखीमठ के बड़े महन्त ने दयानन्दजी को अपना चेला बनाने तथा उनकी गद्दी का स्वामी होने का लालच दिया। यह सुनकर दयानन्दजी ने उनसे कहा कि यदि मुझे धन की चाह होती, तो मैं अपने पिता की सम्पत्ति—जो तुम्हारे इस स्थल और धन-दौलत से कहीं अधिक थी—नहीं छोड़ता। फिर दयानन्दजी

ने उन्हें घर छोड़ने का अपना मुख्य उद्देश्य बताया कि मैं सत्य, योगविद्या और मोक्ष की कामना रखता हूं।

वहां अपने उद्देश्य की पूर्ति होते न देख दयानन्दजी प्रात: जोशीमठ को चले गये। वहां उनकी भेंट दक्षिणी महाराष्ट्रियों और संन्यासियों से हुई, जिनसे वार्तालाप करके दयानन्दजी को योगविद्या के विषय में कई नयी बातें पता चलीं। तत्पश्चात् दयानन्दजी बद्रीनारायण गये और वहां के मन्दिर के सबसे बड़े महन्त विद्वान् रावलजी के साथ कई दिन तक रहे। यहां उन्होंने सारे देश और विशेषतया पर्वतीय स्थानों में सच्चे योगी की खोज करने का निश्चय कर लिया। प्रात:काल दयानन्दजी ने अपनी यात्रा आरम्भ की। वे सबसे पहले अलखनन्दा नदी के तट पर पहुंचे। दयानन्दजी नदी पार करने की अपेक्षा नदी के बहाव के साथ-साथ चलते हुए अलखनन्दा नदी के उद्गम स्थान तक पहुंच गये। मार्ग में उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़े।

आगे चलकर दयानन्दजी को कोई रास्ता नहीं मिला। उन्होंने चारों ओर से अपने को पहाड़ियों से घिरा पाया। दयानन्दजी ने सोचा कि अब तो नदी पार करनी ही पड़ेगी। वे साहस करके नदी पार करने लगे, परन्तु नदी में बर्फ-ही-बर्फ थी, जिसके कारण उनके पांव से खून बहने लगा और नदी पार करने में मुश्किल होने लगी। परन्तु दयानन्दजी ने हिम्मत नहीं हारी और नदी पार करके वहीं खड़े हो गये। अब वह सोचने लगे कि यदि कहीं से कोई मदद मिल जाती, तो अच्छा होता। तभी उन्हें दूर से दो पहाड़ी व्यक्ति उनकी ओर आते दिखाई दिये। उन्होंने दयानन्दजी के पास आकर उन्हें अपने साथ घर चलने के लिए बुलाया, साथ ही खाना देने का भी आश्वासन दिया, परन्तु दयानन्दजी ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया और सोचने लगे कि अच्छा होता यदि मैं लौट गया होता। इतने में वे दोनों व्यक्ति भी वहां से चले गये। थोड़ी देर वहां रुकने के बाद जब दयानन्दजी को कुछ शान्ति प्राप्त हुई, तो वे आगे चले और बासोधा में ठहरे। फिर वहां से 'माना ग्राम' के आसपास होकर वापस बद्रीनारायण पहुंच गये।

बद्रीनारायण में रात को रावलजी के यहां भोजन कर विश्राम किया और प्रात:काल रावलजी से आज्ञा लेकर रामपुर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में उन्हें एक योगी का घर मिला। दयानन्दजी ने रात्रि वहीं व्यतीत की और प्रात:काल उठते ही फिर अपनी यात्रा आरम्भ की। वे कई वनों और पर्वतों को

पार करते हुए चिल्काघाटी से उतरकर अन्त में रामपुर पहुंचे। रामपुर में दयानन्दजी ने प्रसिद्ध रामगिरी के घर पर निवास किया। उनसे विदा लेकर दयानन्दजी काशीपुर गये और वहां से द्रोणसागर पहुंचे। यहां उन्होंने शीत ऋतु व्यतीत की। कई बार उनके मन में हिमालय पर्वत पर पहुंचकर देह त्यागने की बात आयी, परन्तु फिर विचार आया कि ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् ही देह त्यागनी चाहिए। ऐसा विचार कर वे आगे मुरादाबाद से होते हुए सम्भल जा पहुंचे और वहां से गढ़मुक्तेश्वर को पार करते हुए फिर गंगा नदी के तट पर पहुंचे।

यहां दयानन्दजी के पास हठ योग और नाड़ीचक्र आदि से सम्बद्ध कुछ पुस्तकें थीं, जो वे पढ़ा करते थे। एक दिन उन्हें एक शव नदी के ऊपर बहता हुआ मिला। उस समय उनके मन में विचार आया कि क्यों ना इन पुस्तकों में लिखी बातों की परीक्षा की जाये। वे तुरन्त नदी में घुस गये और शव को बाहर निकाल लाये। फिर वे उस शव को काटकर पुस्तक से उसकी समता करने लगे, परन्तु शव और पुस्तकों में आपस में कोई समानता न मिलने पर उन्होंने पुस्तकों को फाड़कर फेंक दिया। तब उन्होंने यह परिणाम निकाला कि वेदों, उपनिषदों, पातञ्जल योग और सांख्यदर्शन के अतिरिक्त विज्ञान और योगविद्या पर लिखी गयीं समस्त पुस्तकें निरर्थक और अशुद्ध हैं।

गंगा नदी के तट पर कुछ दिन रहने के बाद दयानन्दजी कानपुर और इलाहाबाद होते हुए 1856 में बनारस पहुंचे। वहां दयानन्दजी विन्ध्याचल अशोलजी के मन्दिर में एक मास से अधिक दिन रहे। फिर वहां से दयानन्दजी चांडालगढ़ में स्थित दुर्गाकुण्ड के मन्दिर में पहुंचे। वहां उन्होंने चावल खाने छोड़ दिये और केवल दूध पर अपना निर्वाह करके दिन-रात योगविद्या पढ़ने और उसका अभ्यास करने में लगे रहे। यहां दयानन्दजी को भंग सेवन करने का दुर्व्यसन लग गया। एक दिन दयानन्दजी ने भंग के नशे में सोते हुए शिव-पार्वती को आपस में अपने बारे में बातें करते हुए देखा, उन्होंने भंग का भी प्रसंग छेड़ा था। निद्रा टूटने पर जब दयानन्दजी ने इस स्वप्न पर विचार किया, तो उन्हें बहुत दु:ख हुआ। शेष रात्रि उन्होंने नन्दी देवता की मूर्ति के भीतर घुसकर व्यतीत की। परन्तु इस स्वप्न ने उनका यह दुर्व्यसन दूर कर दिया।

यहां से निकलकर दयानन्दजी नर्मदा नदी के उद्गम स्थल की ओर चल पड़े। रास्ते में उन्हें घने वन, जंगली हाथी, शेर और रीछ का सामना करना

पड़ा। जंगल में बहुत-से कांटेदार वृक्ष भी थे, जिनसे बचकर निकलने पर भी दयानन्दजी के अंग और वस्त्र क्षत-विक्षत हो गये। सम्पूर्ण कठिनाइयों को पार करते हुए दयानन्दजी आगे बढ़ते ही जा रहे थे। अन्त में उन्हें एक जगह पर कुछ झोपड़ियां दिखाई दीं। दयानन्दजी ने वहां एक बड़े वृक्ष के नीचे रात व्यतीत की। प्रात:काल वे अपने घायल चरणों और हाथों को धोकर उपासना तथा प्रार्थना करने बैठे, तभी उन्हें वहां एक जलूस आता दिखाई दिया। उस जलूस में से एक वृद्ध ने आगे आकर दयानन्दजी पूछा कि तुम कहां से आये हो? दयानन्दजी ने कहा कि मैं बनारस से आया हूं और नर्मदा नदी के उद्गम स्थाल की ओर यात्रा के लिए जा रहा हूं।

थोड़ी देर बाद उन सबकी ओर से एक प्रतिनिधि दयानन्दजी को झोंपड़ी में बुलाने के लिए आया, परन्तु दयानन्दजी ने उनकी इस कृपा को स्वीकार नहीं किया; क्योंकि वे सब मूर्तिपूजक थे। दयानन्दजी के मना करने पर उन लोगों ने उसी स्थान पर दयानन्दजी के लिए दूध तथा विश्राम की व्यवस्था की। दयानन्दजी ने रात्रि में विश्राम कर प्रात:काल उठकर सन्ध्यादि की तथा फिर वहां से मथुरा की ओर प्रस्थान किया।

स्वामी विरजानन्दजी से अध्ययन

जब दयानन्दजी नर्मदा की यात्रा कर रहे थे, तो उन्हें पता चला कि मथुरा में व्याकरण के एक धुरंधर विद्वान् विरजानन्दजी रहते हैं। आगे चलने से पहले हम यहां विरजानन्दजी के जीवन-चरित्र पर थोड़ा प्रकाश डालेंगे।

विरजानन्दजी का जन्म 1854 में पंजाब देश के करतारपुर नगर के एक छोटे-से गंगापुर नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिताजी का नाम नारायणदत्त था। छोटी-सी अवस्था में ही इस बालक को शीतला रोग हो गया, जिससे इस बालक की आंखें जाती रहीं। आठ वर्ष की आयु तक पिता ने उनको सारस्वत और संस्कृत पढ़ाया। 11 वर्ष की आयु तक यह बालक माता-पिता के संरक्षण में पलता रहा, परन्तु बारहवें वर्ष में उसके सिर से माता-पिता का साया हट गया। अब उन्हें अपने भाई की शरण में रहना पड़ा, जहां इस अन्धे अनाथ बालक को अपने भाई-भाभी से भोजन के स्थान पर गालियां मिलती थीं।

अपने भाई-भाभी के व्यवहार से तंग आकर विरजानन्दजी बारह वर्ष की आयु में ही घर से निकल जंगल की ओर चल पड़े। अनेक विपत्तियों का सामना कर विरजानन्दजी 15 वर्ष की आयु में ऋषिकेश पहुंचे। वहां उन्होंने अपने अशान्त हृदय को शान्ति देने के लिए तीन वर्ष गंगा में खड़े होकर गायत्री का परमजाप उत्तम रीति से किया, जिससे उनका मन और अन्तःकरण रूपी चक्षु ज्ञानरूपी अंजन से प्रकाशित हो गये। तत्पश्चात् एक रात स्वप्न में उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि तुमको जो कुछ होना था, वह हो गया, अब यहां से चले जाओ। फलस्वरूप वे भयानक वन को पार करते हुए 18 वर्ष की आयु में हरिद्वार पहुंच गये और यहां उन्होंने एक विद्वान् गौड़ स्वामी पूर्णानन्द सरस्वतीजी से भेंट की। यहीं उन्होंने पूर्णानन्दजी से संन्यास ग्रहण किया और अपना नाम विरजानन्द रखा। संन्यास लेने के बाद विरजानन्दजी ने विद्योपार्जन का विचार किया। तपस्या करने के बाद उनकी कवित्व शक्ति जागृत हो गयी

और उन्होंने रामचरित्र के सम्बन्ध में श्लोक रचे।

कुछ समय हरिद्वार में ठहरकर एक ब्राह्मण से षड्लिंग पर्यन्त मध्यकौमुदी पढ़ी और इसके बाद स्वयं विद्यार्थियों को पढ़ाना आरम्भ किया। वहां से चलकर कुछ समय कनखल ग्राम में रहे, उसके बाद काशी चले गये। काशी में एक वर्ष से कुछ अधिक ठहरकर उन्होंने मनोरमा, शेखर, न्याय, मीमांसा और वेदान्त के ग्रन्थ पढ़े। वहां विरजानन्दजी अपनी विद्वता के कारण 'प्रज्ञाचक्षु-स्वामी' के नाम से प्रसिद्ध हुए। 22 वर्ष की आयु में वे काशी से पैदल चलकर गया नगर गये। वहां काफी समय तक वेदान्तशास्त्र पढ़ने-पढ़ाने के पश्चात् विरजानन्दजी बंगाल की राजधानी कलकत्ता गये। वहां से लौटते हुए ग्राम सोरों में गंगा के तट पर बहुत दिन तक विचार में निमग्न रहे।

सोरों से विरजानन्दजी अलवर होते हुए भरतपुर गये। भरतपुर में 6 मास निवास करने के बाद विरजानन्दजी मुरसान नामक ग्राम गये और वहां से पुनः सोरों चले गये। सोरों से विरजानन्दजी मथुरा पहुंचे, जहां वे गतश्रम नारायण के मन्दिर में कई दिन विद्यार्थियों को पढ़ाते रहे। तत्पश्चात् अपना विशेष मकान किराये पर लेकर नियमपूर्वक पाठशाला चालू करके सिद्धान्त कोमुदी, मनोरमा, न्यायमुक्तावली, न्याय, कोष और कई वैदिक ग्रन्थ पढ़ाने लगे।

अब हम दयानन्दजी की कथा पर आते हैं। पूर्ण विद्या की इच्छा से दयानन्दजी रीवां बुन्देलखण्ड से होते हुए 1860 में मथुरा पहुंच गये। मथुरा पहुंचकर दयानन्दजी ने गुरु विरजानन्दजी का द्वार खटखटाया। अन्दर से आवाज आयी—'कौन हो?' दयानन्दजी बोले—'एक संन्यासी।' फिर विरजानन्दजी ने कहा—'क्या नाम है?' दयानन्दजी ने कहा—'दयानन्द सरस्वती।' विरजानन्दजी ने पूछा—'कुछ व्याकरण पढ़ा है?' दयानन्दजी ने कहा—'सारस्वतादि पढ़ा है।'

जिस प्रकार अंकगणित का न जानने वाला 'अफलातून' का शिष्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार संस्कृत-व्याकरण का न जानने वाला विरजानन्दजी का शिष्य नहीं बन सकता था। व्याकरण जानने के कारण ही ऋषि विरजानन्दजी ने दयानन्दजी को अपनी शिष्यता में स्वीकार किया। गुरु और शिष्य एक-दूसरे को पाकर धन्य हो गये। गुरु ने हृदय खोल दिया, उन्होंने दयानन्दजी को समग्र वेदशास्त्र और संस्कृत व्याकरण पढ़ाया। दयानन्दजी के मथुरा में आने के कुछ समय पश्चात् अकाल पड़ा, जो छह-सात महीने तक रहा। अकाल

की स्थिति में भी दयानन्दजी समस्त कष्टों का सामना करते हुए धैर्यपूर्वक विद्या-प्राप्ति में लगे रहे। दयानन्दजी प्रतिदिन विरजानन्दजी के स्नान के लिए 15-20 घड़े जल यमुना से लाते थे। मन्दिर की बैठक पर प्रतिदिन व्यायाम करते और कई मील तक भ्रमण करने जाया करते थे। विरजानन्दजी के पीने के लिए यमुना के बीच में से अत्यन्त श्रेष्ठ शुद्ध जल लाया करते थे।

इस प्रकार समय व्यतीत होता गया। दयानन्दजी में गुरुभक्ति कूट-कूटकर भरी हुई थी। एक दिन वृन्दावन में रंगाचार्य से स्वामी विरजानन्दजी का शास्त्रार्थ हुआ, दयानन्दजी भी साथ गये थे। वार्तालाप के समय वहां रंगाचार्य का एक शिष्य संस्कृत में बोलने लगा। दयानन्दजी ने उसकी बोली हुई पंक्ति का संस्कृत में खण्डन किया, परन्तु विरजानन्दजी ने उन्हें रोक दिया कि तुम मत बोलो, चाहे वह कुछ कहे। एक दिन विरजानन्दजी ने दयानन्दजी को लाठी से मारा, जिससे विरजानन्दजी के हाथ में दर्द होने लगा। तब दयानन्दजी ने कहा कि महाराज! आप मुझे न मारा करें; क्योंकि मेरा शरीर वज्र के समान कठोर है, उस पर प्रहार करने से आपके कोमल हाथों को दु:ख होगा। उस चोट का चिह्न स्वामीजी के हाथ पर अन्तकाल तक रहा, जिसे देखकर वे प्राय: दयानन्दजी का स्मरण किया करते थे।

विद्या-समाप्ति पर विरजानन्दजी ने दयानन्दजी से गुरुदक्षिणा मांगी। दयानन्दजी ने कहा कि आपकी जो आज्ञा हो, मैं उपस्थित हूं। तब विरजानन्दजी ने कहा कि प्रतीज्ञा करो कि वेदों के उद्धार में जीवन लगा दोगे। संसार में फैले हुए अज्ञान, अन्धकार, जड़ता, ढोंग, पाखण्ड, कुरीतियों आदि को दूर कर सदियों से गहरी नींद में सोने वाले इस देश को नवजागरण का सन्देश दोगे। सत्य सनातन वैदिक धर्म का प्रचार एवं प्रसार करोगे। मुझे गुरुदक्षिणा में तुम्हारा जीवन चाहिए। दयानन्दजी ने सिर झुकाकर इसको स्वीकार किया और गुरु का आशीर्वाद लेकर लोकोपकार और लोकोद्धार के लिए निकल पड़े।

❑❑

आगरा निवास

गुरु से आज्ञा लेकर दयानन्दजी आगरा गये। वहां वे यमुना के किनारे भैरव के मन्दिर के पास एक बगीचे में रहे। एक दिन राजसी ठाठ-बाट से रहने वाले कैलाश पर्वत स्वामी उस बगीचे में आये। उनकी राजसी ख्याति के कारण बहुत-से लोग उनसे मिलने को गये। वहां गीता के एक श्लोक तथा वेदान्त विषय पर कुछ वाद हुआ। दयानन्दजी उन दिनों वहां नये थे, उनको कोई जानता नहीं था, वे समीप के एक शिवालय में बैठे हुए थे। जब कैलाश पर्वतजी गीता के एक श्लोक के अर्थ से श्रोताओं को सन्तुष्ट न कर सके, तब एक महाशय के कहने पर दयानन्दजी ने कहना आरम्भ किया, जिसे सुनकर वहां उपस्थित सभी लोग उनकी ओर आकृष्ट हो गये। दयानन्दजी के अर्थ से उन सबको सन्तोष हो गया। तब कैलाश पर्वतजी ने कहा कि दयानन्दजी की विद्या बहुत अच्छी है। यदि तुममें से कोई कुछ पढ़ना चाहे, तो यही वह एक व्यक्ति है, जो तुम्हें पढ़ा सकता है। उस समय से पढ़ने और धर्मचर्चा में रुचि रखने वाले उनके पास आने लगे।

इसी प्रकार समय व्यतीत होने लगा। वहां आने वाले लोगों में कुछ लोग वेदान्ती थे। उन्होंने दयानन्दजी के सामने यह इच्छा प्रकट की कि आप कुछ देर अपने मुखराविन्द से 'पंचदशी' वेदान्त ग्रन्थ में से कुछ कहा करें। दयानन्दजी ने कहा कि मैं ऋषिकृत ग्रन्थ बांचता और मानता हूं। मनुष्यकृत ग्रन्थ को मैं नहीं बांचूंगा। लोगों ने कहा कि महाराज! यह ग्रन्थ शंकर स्वामी के शिष्य विद्यारण्य स्वामी का बनाया हुआ है, वे बड़े महात्मा थे, इसलिए यह ग्रन्थ मनुष्यकृत नहीं दीखता। दयानन्दजी ने उनकी बात मानकर कथा का आरम्भ किया। दयानन्दजी ने पहले थोड़ा-सा बांचा और उसका अर्थ किया। पढ़ते-पढ़ते एक स्थान पर लिखा था कि कभी-कभी ईश्वर को भी भ्रम हो जाता है। दयानन्दजी ने उस पर स्वयं ही आक्षेप किया कि यह कैसी बात है! जिसको भ्रम हुआ वह ईश्वर कहां रहा? ईश्वर को कभी भ्रम नहीं हुआ। इससे सिद्ध

होता है कि यह ग्रन्थ मनुष्यकृत है। यह कहकर उन्होंने पुस्तक रख दी और कहा कि मैं इसको नहीं बांचूंगा; क्योंकि गुरु की आज्ञा नहीं। परन्तु क्वार के महीने से गीता की कथा आरम्भ की। रात के समय दो घण्टे कथा किये करते थे और देवी भागवत से भी अच्छे-अच्छे उपदेश सुनाया करते थे।

एक बार कुछ व्यक्ति दयानन्दजी के पास आये और उन्होंने दयानन्दजी से प्रश्न किया कि आपने जो इतनी विद्या पढ़ी है, उससे आप क्या करेंगे और किसलिए आपने इतना परिश्रम उठाया; क्योंकि यह भाषा तो अब मृतभाषा होती जा रही है। सरकारी दफ्तरों आदि जगहों पर अब इस भाषा का चलन छूटता जा रहा है। दयानन्दजी ने उत्तर में कहा कि हम इससे अपना परलोक सुधारेंगे और यदि किसी की इच्छा हो, तो उसकी भी सहायता कर सकते हैं। दयानन्दजी के ऐसे वचन सुनकर वे व्यक्ति उनसे अष्टाध्यायी पढ़ने लगे।

उन्हीं दिनों दयानन्दजी के उपदेश से एक 'सन्ध्या पुस्तक' छपावायी गयी। इस पुस्तक के अन्त में लक्ष्मीसूक्त भी था। यह एक आने में बेची गयी। नगर के सभी लोगों ने इस पुस्तक को खरीदा। यह तीनों वर्ण के लिए एक ही सन्ध्या थी। आगरा में रहकर दयानन्दजी निरन्तर मूर्तिपूजा का खण्डन किया करते थे। आगरा के दो परम विख्यात पण्डित भी इस बात से सहमत हो गये कि मूर्तिपूजा निषिद्ध है, परन्तु गृहस्थी होने के कारण वे प्रत्यक्ष रूप में पूजा न छोड़ सके। आगरा में रहते हुए भी दयानन्दजी समय-समय पर पत्र द्वारा विरजानन्दजी से अपने सन्देह का निवारण किया करते थे।

दयानन्दजी आगरा से वेद की पुस्तक की खोज में धौलपुर गये और वहां 15 दिन तक निवास करके फिर ग्वालियर चले गये।

भागवत की कथा से अमंगल की भविष्यवाणी

नवम्बर 1864 में ग्वालियर के महाराजा ने ज्योतिषियों को बुलाकर श्रीमद्भागवत सप्ताह का मुहूर्त पूछा। उन्होंने 24 जनवरी, 1865 का मुहूर्त निकाला। महाराजा ग्वालियर ने सभी देश देशान्तरों में तार द्वारा योग्य पण्डितों को सूचना भिजवायी। काशी, पूना, सितारा, अहमदाबाद, हैदराबाद, नासिक आदि से ऐसे पण्डित बुलाये गये, जो खड़े होकर हरिकथा कहें। दूर-दूर से लोग आने आरम्भ हो गये और महाराजा साहब की ओर से भी बड़ी धूमधाम से तैयारियां होने लगीं। अतिथिसत्कार करने में कोई कमी शेष नहीं छोड़ी गयी।

24 जनवरी, 1865 को दयानन्दजी अपने चार विद्यार्थियों के साथ बापू आपाड़ जरनैल के गंगा मन्दिर में पधारे। लश्कर में जब उनके आने का समाचार पहुंचा, तो बहुत-से पण्डित लोग उनके दर्शनों के लिए वहां आने लगे। जब दयानन्दजी को यह पता चला कि यहां श्रीमद्भागवत कथा होने वाली है, तो उन्होंने भागवत का खण्डन किया और यह भी कहा कि लश्कर में बड़ा विघ्न होगा। जब यह बात महाराज को पता चली, तो उन्होंने विष्णुदीक्षित पण्डित को दयानन्दजी के पास भेजा। विष्णुदीक्षित पण्डित दयानन्दजी के पास गये और उनसे कहा कि मुझे महाराज ने भेजा है और श्रीमद्भागवत सप्ताह का माहात्म्य पूछा है। दयानन्दजी ने हंसते हुए कहा कि दुःख उठाने और क्लेश के अतिरिक्त कोई फल नहीं है, चाहो, तो करके देख लो।

विष्णुदीक्षित वहां से सीधा महाराज के पास गये और उन्हें पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। महाराज ने कहा कि हम सब प्रबन्ध कर चुके हैं और दूर-दूर से विद्वान् पण्डित भी आ चुके हैं, अब क्या हो सकता है। तब गोविन्द बाबा ने महाराज को दयानन्दजी को यज्ञ में बुलाने का सुझाव दिया। जब दयानन्दजी के पास निमन्त्रण पहुंचा, तो उन्होंने गायत्री पाठ (पुरश्चरण) कराने का सुझाव दिया। महाराज ने कहा कि बड़े-बड़े विद्वान् आ चुके हैं, कथा की

तैयारी हो गयी है, अब कैसे हो सकता है। ऐसा कहकर महाराज ने श्रीमद्भागवत सप्ताह का आरम्भ कर दिया।

पहले दिन पांच बजे दिन को कथा का आरम्भ हुआ। 12 बजे कथा का विसर्जन हुआ, 3 बजे तक खानपान होता रहा। 3 बजे से पुनः कथा का आरम्भ हुआ और रात्रि 9 बजे तक कथा समाप्त हुई। महाराज प्रथम दिन की कथा समाप्ति पर बहुत प्रसन्न थे, परन्तु रात्रि के समय महारानी का पांच महीने का गर्भ गिर गया और स्राव आरम्भ हो गया, जिसके कारण वे कथा में न आ सकीं। महाराज दुखी हो गये।

कथा के दूसरे दिन कथा के दौरान रावजी शास्त्री के घर में मृत्यु हो गयी, जिससे उन्हें कथा से उठकर जाना पड़ा। कथा के तीसरे दिन बाबा की कथा चल रही थी कि उसी समय कोठी मण्डप के सामने कोई सांड को तलवार मारकर भाग गया। कथा में कोलाहल मच गया। तत्पश्चात् पूरा सप्ताह प्रसन्नापूर्वक कथा होती रही। कथा की समाप्ति पर महाराज ने छोटे महाराज को सब ब्राह्मणों के चरणों में डाला। सभी ने उन्हें आशीर्वाद दिया कि 'सौ वर्ष पर्यन्त सुखपूर्वक जीवित रहो।' पण्डित लोगों को बहुत-सा धन देकर विदा किया गया।

कथा समाप्ति के 10 दिन बाद नगर में हैजा फैल गया, जिसकी चपेट में छोटे महाराज भी आ गये और मृत्यु को प्राप्त हुए। इस मृत्यु से महाराज सहित समस्त लश्कर वालों को बड़ा दुःख हुआ। बड़े-बड़े राजा महाराज के प्रति शोक प्रदर्शन करने आने लगे।

मई 1865 तक दयानन्दजी बाबा साहब के बाग में रहे और उस दिन तक शास्त्रार्थ के लिए विज्ञापन लिखकर भेजते रहे, परन्तु कोई शास्त्रार्थ के लिए नहीं आया। इसलिए दयानन्दजी ग्वालियर से करौली चले गये और वहां जाकर राजा साहब एवं पण्डितों से शास्त्रार्थ किया। वहां उन्होंने वेदों का पुनः अभ्यास किया और फिर जयपुर चले गये।

❑❑

जयपुर में दयानन्दजी

जयपुर पहुंचकर दयानन्दजी ने रामकुमार नन्दराम मोदी के बगीचे में निवास किया। यहां रहते हुए दयानन्दजी ने व्याकरण के दस सा पन्द्रह प्रश्न लिखकर जयपुर की पाठशाला में पण्डितों के पास भेजे। पण्डितों ने उन प्रश्नों के उत्तर में अनेक प्रकार के असभ्य शब्द लिख भेजे, जिसमें से दयानन्दजी ने आठ प्रकार के दोष निकालकर पण्डितों के पास पत्र भेजा। उस पत्र को पढ़कर पण्डितों को अत्यन्त क्षोभ हुआ और उन्होंने उसका कोई उत्तर नहीं दिया। बाद में सब पण्डितों ने एकत्र होकर व्यास बख्शीरामजी से कहा कि आप उस पुरुष को महलों में बुलवाकर हमारा शास्त्रार्थ कराइये। तब व्यासजी ने दयानन्दजी और उन पण्डितों को महल में बुलवाया। पण्डितों में से एक पण्डित ने सबका मुखिया बनकर दयानन्दजी से पूछा कि ये पन्द्रह प्रश्न और उनके उत्तर में यह आठ प्रकार के दोष आपने ही लिखे हैं? दयानन्दजी ने कहा कि हां, यह मैंने ही लिखे हैं।

तब उस प्रमुख पण्डित ने उन शब्दों में से 'कल्म' शब्द की व्याख्या की। व्याख्या की समाप्ति पर दयानन्दजी ने उसका खण्डन करना आरम्भ किया, जिसे सुनकर सभी पण्डित यह कहकर चुप हो गये कि यदि यह व्याख्या ठीक नहीं, तो आप कथन कीजियेगा। इस पर दयानन्दजी ने कहा कि यदि मेरा और आपका कथन लिखा जाये, तो उत्तम होगा; क्योंकि लिखने के पश्चात् कोई अपनी बात से मुकर न सकेगा। इस पर पण्डितों ने बहुत विवाद किया और लिखित शास्त्रार्थ को अस्वीकार कर दिया। इस पर दयानन्दजी ने अपनी विद्या सम्बन्धी योग्यता को प्रकट करने के लिए बिना लेख के ही कथन किया, जिसे सुनकर एक मैथिल ओझा ने दयानन्दजी से पूछा कि यह अर्थ कहां पर लिखा है? दयानन्दजी ने कहा कि सम्पूर्ण शब्दों की व्याख्या किसी एक पुस्तक में नहीं लिखी हुई है, परन्तु यह मेरा कथन निस्सन्देह महाभाष्य के अनुकूल है। इस पर ओझाजी ने कहा कि महाभाष्य की व्याकरण

में गणना नहीं है। यह सुनकर दयानन्दजी ने कहा कि क्या आप लोगों को ऐसा विदित है कि महाभाष्य की व्याकरण में गणना नहीं है। कृपया आप लोग यह तो अवश्य लिख दीजिये कि 'महाभाष्य की व्याकरण में गणना नहीं है' और इस पर हस्ताक्षर करा दीजिये। इस पर सभी पण्डित लज्जित और निरुत्तर हो गये।

तभी मुन्नालालजी ने दयानन्दजी से सभा विसर्जित करने को कहा। परन्तु दयानन्दजी ने कहा कि केवल ये पण्डित यह लिख कर दे दें, तो सभा विसर्जित हो जायेगी। इतने में सभी लोग खड़े हो गये। तब दयानन्दजी बोले कि उस सभा को सभा नहीं कहना चाहिए, जो निरुत्तर होने के समय उठ भागे और ऐसे पुरुषों को पण्डित नहीं कहना चाहिए, जो महाभाष्य की व्याकरण में गणना न करें। इतना कहकर दयानन्दजी अपने निवास की ओर चल पड़े और सभा विसर्जित हो गयी।

इस शास्त्रार्थ का समाचार सुनकर ओसवाल वैश्यों के गुरु जती श्री पूज्यजी ने दयानन्दजी के पास एक दूत भेजकर कहलवाया कि आप मेरे से कुछ वार्तालाप करें। इस पर दयानन्दजी ने उनसे कहा कि जब वे उचित समझें, आ जायें। इस पर जतीजी ने फिर कहलवा भेजा कि यदि मैं आपके पास आया, तो सेवकों में हमारा मान घट सकता है, इस कारण आप समयानुकूल किसी बाग में मिल जायें, तो उचित रहेगा। इस पर दयानन्दजी ने कहा कि जब मिलाप होगा, तब होगा, इतने में कुछ पत्र द्वारा ही वार्ता कर लीजिये। ऐसा कहकर दयानन्दजी ने उन्हें व्याकरण विषय के पूर्वोक्त पन्द्रह प्रश्न लिखकर भेजे और उनका उत्तर मांगा। उन प्रश्नों को देखकर जतीजी ने कुछ उत्तर नहीं लिख, अपितु जैनमत के अनुकूल आठ प्रश्न लिखकर दयानन्दजी के पास भेज दिये। दयानन्दजी ने उन प्रश्नों के बुद्धिपूर्वक उत्तर लिखकर भेज दिये, साथ ही जैन धर्म पर आठ प्रश्न नये लिखकर भी भेज दिये, जिनका उत्तर भी जतीजी ने नहीं दिया।

पुष्कर मेले में

दयानन्दजी सन् 1866 में जयपुर से चलकर दस दिन बाद पुष्कर पहुंचे और वहां ब्रह्मा मन्दिर में निवास किया। एक बार दयानन्दजी ने ब्रह्माजी के मन्दिर के उस समय के पुरोहित को कहा कि अरे शिवदयाल! तेरा ब्रह्मा मुंह से बोलता है या तुम्हारे से बात करता है? जब वह पुरोहित ढोल बजाता, तब दयानन्दजी कहते कि अरे चमड़ा कूटने से क्या लाभ? तब उस पुरोहित ने स्वामीजी से पूछा कि आप मुझे ईश्वर का नाम बता दीजिये; क्योंकि हमारे बड़े तो ब्रह्मा को ही विष्णु आदि कहते हैं। तब दयानन्दजी ने कहा कि 'सच्चिदानन्द' यही नाम जपा करो और कोई नहीं। दयानन्दजी ने पुरोहित सहित बहुत-से लोगों की कण्ठियां उतरवाकर ब्रह्माजी के मन्दिर के एक कोने में ढेर लगवा दिया। दयानन्दजी का उपदेश सुनकर उस पुरोहित ने ब्रह्माजी की पूजा और पण्डों के रूप में घाट पर मांगना छोड़ दिया तथा डाकखाने में नौकरी करने लगा।

एक दिन रंगाचार्य के शिष्य गोविन्ददास और दयानन्दजी का गीता के एक श्लोक पर शास्त्रार्थ हुआ। स्वामीजी के बहुत समझाने पर भी वह मूर्ख न समझा। दयानन्दजी शास्त्रार्थ आदि कार्यों से कभी न घबराते थे। वे लगातार तीन-तीन दिन तक भी शास्त्रार्थ करने में समर्थ थे। एक बार लोगों ने उनसे पूछा कि स्वामीजी आप किसको मानते हैं, तो दयानन्दजी ने कहा कि हम केवल 'सच्चिदानन्द' परमेश्वर को मानते हैं। फिर लोगों ने 'शिवजी' के विषय में पूछा। दयानन्दजी ने कहा कि हम शिव को मानते हैं, परन्तु शिव नाम कल्याण का है, जिसको हम मानते हैं। दूसरा जो पार्वती का पति शिव है, उसको हम नहीं मानते।

पुष्कर में दयानन्दजी ने मूर्तिपूजा का खण्डन आरम्भ किया, जिससे ब्राह्मण लोग झगड़ा करने के लिए इकट्ठे हो गये। वाद-विवाद में जब कोई भी ब्राह्मण विद्या में दयानन्दजी का सामना न कर सका, तो वे व्यंकट

शास्त्रीजी के पास गये। व्यंकट शास्त्रीजी ने दयानन्दजी को शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रित किया। दयानन्दजी वहां गये। वहां तीन-चार सौ ब्राह्मण भी उपस्थित थे। प्रथम शास्त्रार्थ भागवत के विषय पर हुआ। तत्पश्चात् दुर्गा विषय में बातचीत हुई। वे दोनों परस्पर संस्कृत बोलते रहे। अन्त में शुद्धि-अशुद्धि पर बात चली। एक घण्टे तक हुई इस बातचीत के पश्चात् शास्त्रीजी ने दयानन्दजी की प्रशंसा करते हुए कहा कि आपकी विद्या बहुत प्रबल है। तब व्यंकट शास्त्रीजी ने दयानन्दजी को अपने गुरु अघोरी से मिलाया। अघोरी ने दयानन्दजी से बातचीत करके सबके सामने कहा कि दयानन्दजी जो कुछ कहते हैं, वह सत्य है। यह सब सुनकर सभी ब्राह्मण चले गये। व्यंकट शास्त्रीजी ने दयानन्दजी से कहा कि जब कभी आपका किसी से शास्त्रार्थ हो, आप मुझे लिखना, मैं अवश्य आऊंगा।

अघोरी बाबा से मिलने के पश्चात् जब दयानन्दजी लौट रहे थे, तब उन्हें रास्ते में एक पण्डा मिला। उसने कहा—'महाराज! मैं मूर्ति-पूजा न करूं, तो फिर भगवान् की उपासना कैसे करूं? मेरे गुरु कहते हैं कि विष्णु के शंख, चक्र, गदा और पद्म के चिह्न को अपनी भुजा पर अंकित करवा लो। उन्होंने मुझे एक पुस्तक भी दी है, जिसमें लिखा है कि विष्णु के पांच चिह्नों को भुजा पर अंकित करवाने का प्रमाण वेदों में है।' दयानन्दजी ने ठण्डी सांस लेते हुए कहा—'पण्डाजी! इस समय मुझे नित्य कर्म और सन्ध्या करना है। कल मेले में उपदेश करते समय इसी विषय पर बोलूंगा, तब तुम्हारी शंकाओं का निवारण हो जायेगा।'

अगले दिन प्रातःकाल दयानन्दजी ने मेले में उपदेश आरम्भ किया। उस समय वहां पण्डाजी भी मौजूद थे। दयानन्दजी ने कहा—'किसी वैरागी के दो चेले थे, जो प्रतिदिन अपने गुरु के पांव दबाया करते थे। दोनों ने एक-एक पैर बांट लिया था। एक चेला दायीं टांग दबाता था, तो दूसरा बायीं टांग दबाता था। उन्हें एक टांग से दूसरी टांग का छू जाना भी फूटी आंख न सुहाता था। एक दिन दायीं टांग वाले चेले को गुरुजी ने किसी काम से भेजा। बायीं टांग वाले चेले ने समय से आपना सेवा-कार्य आरम्भ कर दिया। जब वह बायीं टांग दबा रहा था, तो गुरुजी ने करवट ली, जिससे दायीं टांग बायीं टांग के ऊपर आ गयी। यह देखकर चेले को बहुत गुस्सा आया और उसने डण्डा उठाकर दायीं टांग पर दे मारा। उसी समय दूसरा चेला भी आ गया। जब उसने

अपनी टांग को पिटते देखा, तो उसने भी डण्डा लेकर बायीं टांग को मारना आरम्भ कर दिया। दोनों चेले गुरुजी की टांगों पर डण्डे से वार करने लगे और गुरुजी बेचारे हाय-हाय करने लगे। यह शोर सुनकर बहुत-से लोग वहां आये और उन्होंने गुरुजी को मूर्ख शिष्यों के चुंगल से छुड़ाया। फिर एक बुद्धिमान् व्यक्ति ने उन दोनों चेलों से कहा कि जिन टांगों को तुम पीट रहे थे, वे तुम्हारे गुरु की ही हैं। यदि तुम उनकी सेवा करते हो, तो उन्हें सुख पहुंचता है और यदि तुम उन्हें पीड़ा देते हो, तो दु:ख भी तुम्हारे गुरु को ही होता है। इसलिए मूर्खो! तुम गुरुजी की टांगों को पीटकर अपने गुरु को ही कष्ट और पीड़ा दे रहे हो।

'ठीक इसी प्रकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के लोग एक अखण्ड सच्चिदानन्द अनन्त स्वरूप परमात्मा को भिन्न-भिन्न नामों से पुकार कर आपस में लड़ते हैं। कोई उन्हें विष्णु कहता है, कोई शिव। वे लोग केवल नाम के पीछे ही लड़ते हैं। वे लोग यह नहीं विचारते कि ये ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सैकड़ों नाम एक अद्वितीय, सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर के अनेक गुण-कर्म स्वभावयुक्त होने में उसी के वाचक हैं। सभी सम्प्रदाय वाले अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग अलापते हैं। यदि आप लोग संसार में फिर गौरवशाली होना चाहते हो, तो वेदों की ओर लौटो। उनके आशय को समझो और वेद-मन्त्रों के यथार्थ अर्थ को जानो। वैष्णवों के अनुसार वेदों में यह कहा गया है कि विष्णु भगवान् के पांच चिह्नों से अपने शरीर को दग्ध करवाने वाले मनुष्य का कल्याण होता है। जिस वेद-मन्त्र की ओर उनका संकेत है उसमें आये हुए 'अतप्त तनू' के अर्थ को बदल दिया गया है। उसका वास्तविक अर्थ है—हे ब्रह्माण्ड के स्वामि! तेरा शुद्ध और पवित्र तेज संसार में सब कहीं फैला हुआ है। शुद्धस्वरूप प्रभु! तू हमारे रोम-रोम में समाया हुआ है। परन्तु जिसने तपश्चर्या, अर्थात् संयम द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर लिया है, वह तेरे इस व्यापक पवित्र रूप तेज को प्राप्त नहीं कर पाता। केवल तपस्वी ही तेरे इस शुद्ध-स्वरूप की भली-भांति अनुभूति और उपलब्धि करते हैं।

'अब आप ही विचार करें, इस मन्त्र से चक्रांकित होना कैसे सिद्ध होता है? भाइयो! आप लोगों की दुर्गति इन्हीं सम्प्रदायों के कारण हुई है। इन्हीं ने आर्य जाति में फूट डलवा दी है। इधर तुम लोग एक-दूसरे के शत्रु हो रहे हो, उधर बाहरी शत्रु तुम पर बड़ी निर्दयता से आक्रमण कर तुम्हारा विनाश कर

रहे हैं। यदि तुम लोग वैदिक धर्म रूपी दुर्ग में एकत्र हो जाओगे, तो कोई भी शत्रु अपनी गोली से तुम्हारा कुछ भी न बिगाड़ सकेगा। इसके विपरीत तुम्हारी गोलियां उन्हें मैदान छोड़ने पर मजबूर कर देंगी।

'तुम्हें ऊंच-नीच, छोटे-बड़े आदि का भेद भुलाकर तथा द्वेष की भावना का त्याग करके एक होना होगा, इसी में तुम्हारी भलाई है। वेद की शिक्षा पर चलो और सदाचारी बनकर एक सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान्, निराकार परब्रह्म परमेश्वर की उपासना में लग जाओ। तुम्हारा कल्याण होगा। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।'

दयानन्दजी का उपदेश सुनकर पण्डा की आंखें खुल गयीं। उसने कण्ठी-तिलक आदि अवैदिक प्रथाओं का त्याग कर दिया।

पहली बार अजमेर में

पुष्कर से दयानन्दजी 1866 में अजमेर गये और बंसीलाल सरिश्तेदार के बाग में ठहरे। उन दिनों अजमेर में गवर्नर जनरल के एजेंट कर्नल ब्रुक थे। वह गेरुए वस्त्र वालों से बहुत चिढ़ते थे। एक दिन वह किसी कार्यवश बंसीलाल के बाग में आ गये। वहां उपस्थित लोगों ने जब कर्नल ब्रुक को आते देखा, तो दयानन्दजी से कहा कि आप कमरे में चले जाइये, कहीं यह आपका अपमान न कर दे। ऐसा कहकर वे लोग वहां से चले गये। परन्तु दयानन्दजी अपनी कुरसी पर बैठे रहे। कर्नल ब्रुक ने आते ही अपनी टोपी उतारी और दयानन्दजी से हाथ मिलाकर उनके सामने वाली कुरसी पर बैठ गये और बातें करने लगे। तब दयानन्दजी ने उनसे कहा कि आप धर्म का स्थापन करते हैं या खण्डन। कर्नल ब्रुक ने कहा कि धर्म का स्थापन करना तो हमारे यहां भी अच्छा है, परन्तु जिसमें लाभ हो वह करते हैं। दयानन्दजी ने कहा कि आप लाभ की बात नहीं करते, हानि ही करते हैं। कर्नल ब्रुक के 'कैसे' पूछने पर दयानन्दजी ने कहा कि एक गऊ होती है, उसका एक बछड़ा होता है, इस प्रकार उसकी कितनी वृद्धि होती है। फिर यह विचार करना चाहिए कि उससे कितने मनुष्यों का पालन होता है। फिर आप ही बताइये कि गो-वध में आपको लाभ है या हानि?

कर्नल ब्रुक ने कहा कि हानि ही होती है। परन्तु गोवध बन्द कराना मेरे अधिकार में नहीं है। मैं आपको चिट्ठी देता हूं, आप लाट साहब से मिलें, वह बन्द करा सकते हैं। दयानन्दजी ने कर्नल ब्रुक से चिट्ठी ले ली।

एक दिन अजमेर में दो तपस्वी नवयुवक नाग पर्वत के जंगल से दयानन्दजी से मिलने के लिए आये। दयानन्दजी ने उन्हें बड़े आदर-सत्कार से बैठाया और भोजन कराया। वे दोनों केवल संस्कृत भाषा में ही बातचीत कर सकते थे। कुछ देर तक उन दोनों और दयानन्दजी में योग-सम्बन्धी चर्चा हुई। जब वे दोनों चलने लगे, तो उन्होंने कहा कि महाराज! हम तो बड़े शान्त हैं।

यह सुनकर दयानन्दजी ने उनके अन्दर छिपे अहंकार को ताड़ लिया और उनसे कहा कि अभी आपको अहंकार को जीतना शेष है। परन्तु तपस्वियों ने कहा कि नहीं हमने अहंकार को पूर्णतया जीत लिया है।

इस पर दयानन्दजी ने अपने ब्रह्मचारी को संकेत से कुछ समझा दिया। जब वे दोनों तपस्वी बाहर निकले, तो ब्रह्मचारी ने उन तपस्वियों से किसी बात पर झगड़ा कर लिया। झगड़ा इतना बढ़ गया कि उन लोगों में आपस में कुश्ती आरम्भ हो गयी। कोलाहल सुनकर दयानन्दजी और अन्य लोग वहां पहुंचकर उनमें बीच-बचाव करवाने लगे। फिर दयानन्दजी ने उन दोनों को अन्दर बुलाकर संस्कृत में समझाया और कहा कि तुम लोगों ने मेरी बात नहीं मानी, परन्तु परीक्षा से यह सिद्ध हो गया है कि हमारा कहना सत्य है। मनुष्य, विशेषतया अभ्यासी को कदापि अभिमान नहीं करना चाहिए।

यह सुनकर वे दोनों तपस्वी बहुत लज्जित हुए और उन्होंने दयानन्दजी से क्षमा मांगी। उन्होंने अपनी कमी को बताने के लिए दयानन्दजी का उपकार माना और उनसे कहा कि हमारे दोषों और त्रुटियों को बताने वाला ही हमारा सच्चा मित्र है, अतः आप ही हमारे सच्चे हितैषी हैं। ऐसा कहकर वे दोनों दयानन्दजी को नमो नारायण कहकर वहां से चले गये।

अजमेर से दयानन्दजी अपने भक्तों के साथ किशनगढ़ गये। वहां के राजा साहब वल्लभ कुल के अनुयायी थे। राजा साहब को ज्ञात था कि दयानन्दजी 'भागवत' की तीव्र आलोचना करते हैं, अतः उन्होंने अपने पण्डितों को उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए भेजा। उनमें से एक पण्डित ने एक पुस्तक के कुछ पृष्ठ दयानन्दजी के सामने किये। दयानन्दजी ने कहा कि तुम पढ़ो, हम उत्तर देंगे। पण्डित ने पढ़ा कि हमारा वल्लभ मत सनातन मत है, हम सीधे मार्ग पर हैं और भोजन हमारा ठीक है। दयानन्दजी ने सब सुनने के बाद उसका खण्डन किया, जिस पर वह कोई उत्तर न दे सके, बल्कि झगड़ा करने लगे। यह देखकर दयानन्दजी आसन पर खड़े हो गये और कहा कि 'यह मत समझो कि मैं अकेला हूं और अकेला होने पर भी तुम सबके लिए पर्याप्त हूं। तुमको यदि शास्त्रार्थ करना है, तो भी तैयार हूं और शास्त्रार्थ से भी मैं पीछे नहीं हूं।' दयानन्दजी के ऐसे वचन सुनकर सब पण्डितों ने चुप्पी साध ली।

किशनगढ़ से दयानन्दजी जयपुर पहुंचे। वहां के महाराज रामसिंहजी ने दयानन्दजी के दर्शनों की इच्छा से व्यास बख्शीराम को दयानन्दजी के पास

भेजा और उनसे महल में आने का निवेदन किया, परन्तु दयानन्दजी ने कहा कि मैं महलों में नहीं जाता, यदि महाराज को कुछ सम्भाषण करना हो, तो किसी भी समय यहां आ जायें। फिर महाराज ने ठाकुर रणजीतसिंहजी को दयानन्दजी के पास भेजा। उन्होंने दयानन्दजी से महलों में चलने का निवेदन किया, जिसे दयानन्दजी ने स्वीकार कर लिया। जब दयानन्दजी महल में पहुंचे, तब वहां सब राजपण्डित उपस्थित थे। तभी एक सेवक ने वहां आकर बताया कि महाराज किसी कार्यवश रनवास में पधार गये हैं और अभी आना नहीं होगा। यह सुनकर सभी पण्डित वहां से चले गये और दयानन्दजी भी अपने निवास को चले गये। इसके बाद महाराज ने बहुत प्रयत्न किया कि दयानन्दजी उनके महलों में पधारें, परन्तु दयानन्दजी ने अस्वीकार कर दिया। यह व्यास बख्शीराम आदि कुछ स्वार्थी लोगों की चाल थी; क्योंकि ये लोग नहीं चाहते थे कि दयानन्दजी महाराज से मिलें। उन्हें भय था कि दयानन्दजी के प्रभाव में आकर महाराज मूर्तिपूजा से उदासीन हो जायेंगे, जिससे उनकी स्वार्थ-सिद्धि में बाधा उत्पन्न होगी।

सन् 1866 में दयानन्दजी आगरा पहुंचे। वहां दरबार होने वाला था। दरबार के दिनों में दयानन्दजी वहां धर्म प्रचार करते रहे। उन्हीं दिनों एक सात-आठ पृष्ठ का ट्रैक्ट संस्कृत भाषा में भागवत खण्डन पर श्रीवैष्णवों के विरुद्ध कई हजार की संख्या में प्रकाशित कराया। उसकी कई हजार कापियां वहां दरबार में बांटी और शेष कई हजार कापियां हरिद्वार में कुम्भ के मेले के अवसर पर बांटने के लिए अपने साथ ले गये।

❑❑

परोपकार के लिए पूर्णाहुति तथा विजय का सूत्रपात

हरिद्वार पहुंचकर दयानन्दजी ने भीम-गोडे के ऊपर सप्त-स्रोत के निकट थोड़ा स्थान घेरकर अपना आसन जमाया और वहां एक पताका गाड़ दी, जिस पर मोटे अक्षरों में लिखा था—'पाखण्ड खण्डिनी पताका'। उस समय दयानन्दजी उपनिषदों की कथा किया करते थे। दयानन्दजी ने हरिद्वार में भडुवा 'भागवत खण्डन' की सहस्रों प्रतियां बांटी।

कुम्भ के मेले में समस्त भारत निवासियों के प्रतिनिधियों के रूप में प्रत्येक प्रकार के मनुष्य उपस्थित थे। उनके मर्मज्ञ स्वभाव और प्रत्येक को मूर्तिपूजा तथा सृष्टिपूजा में डूबा हुआ देखकर दयानन्दजी अत्यन्त दुखी हुए। ऋषि-मुनियों की सन्तान, व्यास और कपिल के वंशजों को प्रतिमा पूजन करते देखकर उनके मन में तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ। पण्डितों के वैदिक धर्म की ओर से प्रमाद और उपेक्षा, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों को ईसाई और मुसलमान होते देखकर और सुनकर उनका दयालु हृदय स्थिर न रह सका और उन्होंने सोचा कि सत्य और सेवा का प्रतिपादन कर आर्य-जाति का उद्धार एक महायज्ञ है। उसे पूर्ण करने का मैंने व्रत लिया है। परन्तु यह यज्ञ तभी पूरा होगा, जब मैं इसकी पूर्णाहुति में अपना सर्वस्व स्वाहा कर दूं। इस विचार के मन में आते ही उन्होंने 'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' कहकर अपना सब कुछ त्याग दिया। पुस्तक, बर्तन, पीताम्बरी धोतियां, रेशमी वस्त्र, दुशाले और ऊनी कपड़े, रुपया-पैसा आदि जो कुछ उनके पास था, सब बांट दिया और गंगा के तट पर विचरने का प्रण किया।

उस समय उनका जीवन कठोर तपस्या और त्याग का था। कई-कई दिनों तक उन्हें खाने को कुछ नहीं मिलता था। रात में गंगा के किनारे बालू पर पड़कर ही सो जाते थे। कभी तीन-चार दिनों के बाद किसी किसान से

दो-तीन बैंगन लेकर मन को तृप्त करते थे और कभी कोई मांझी कई दिनों से बिना कुछ खाये-पिये अपने झोपड़े के निकट बालू पर पड़ा देखकर उन्हें अपनी रोटी का कुछ भाग दे देता था। अपने पास आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को दयानन्दजी उपदेश देते थे।

उन्हीं दिनों कुछ लोगों ने दयानन्दजी से उचित कर्म बताने का आग्रह किया। दयानन्दजी ने उन लोगों में अधिक आयु वाले लोगों को प्रायश्चित करने को कहा और सबको यज्ञोपवीत संस्कार कराने की आज्ञा दी। दयानन्दजी की आज्ञानुसार अनूपशहर, दानापुर, कर्णवास, अहमदगढ़, रामघाट, जहांगीराबाद से विद्वान् ब्राह्मण गायत्री का जाप करने के लिए बुलाये गये। दयानन्दजी की कुटिया पर कुण्ड बनाकर तथा अनूपशहर के दर्शनी व पर्वती कर्मकाण्डी वेदपाठी ब्राह्मणों को ब्रह्मा, होता, ऋत्विक आदि बनाकर यज्ञ आरम्भ हुआ और सबको उसी यज्ञ में यज्ञोपवीत संस्कार के बाद गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया गया। यज्ञ की समाप्ति पर यज्ञशेष बांटा गया और सबने अपनी सामर्थ्यानुसार जपकर्ता तथा यज्ञकर्ता को दक्षिणा अर्पण की।

इस यज्ञ को, उस समय, क्षत्रियों को बहुत दिनों से छूटे हुए संस्कार को फिर से कराने वाला तथा श्री स्वामीजी महाराज की विजय को सूर्योदय की भांति प्रकाशित करने वाला, कहना उचित है। इस यज्ञ से धर्मात्माओं के मृत हृदयों में धर्म की अभिनव अग्नि जल उठी और क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य चारों ओर से आ-आकर संस्कार कराने लगे।

कर्णवास की घटनाएं

दयानन्दजी ने कर्णवास पहुंचकर सूर्यग्रहण के अवसर पर अपने उपदेशों का क्रम आरम्भ किया। दयानन्दजी के आकर्षक व्यक्तित्व को देखकर सैकड़ों स्त्री-पुरुष उनका उपदेश सुनने के लिए आते थे। एक दिन पण्डित हीरावल्लभ भी वहां आये। वे पहले ही अनूपशहर में दयानन्दजी से शास्त्रार्थ में हार चुके थे। उन्होंने एक बार फिर से दयानन्दजी से एक दांव खेलने का निर्णय लिया और दयानन्दजी के सामने जाकर एक छोटा-सा सुन्दर सिंहासन रखकर उच्च स्वर में बोले कि मैं दयानन्द से ठाकुरजी को भोग लगवाकर ही छोड़ूंगा। यहकर उन्होंने दयानन्दजी से शास्त्रार्थ आरम्भ कर दिया। वह दिन दोनों के धारा-प्रवाह संस्कृत बोलने में समाप्त हुआ और इसी प्रकार छह दिन तक धर्मचर्चा होती रही। दयानन्दजी ने पण्डितजी के प्रश्नों के उत्तर में उन-उन व्याकरण ग्रन्थों का उल्लेख किया और उनके प्रमाण प्रस्तुत किये, जिन्हें इन वैयाकरण महोदय ने कभी स्वप्न में भी नहीं देखा था। पण्डितजी चारों खाने चित्त हो गये और अन्त में उन्होंने खड़े होकर दयानन्दजी महाराज की संस्कृत में स्तुति कर प्रणाम किया और बड़े उच्च स्वर से सभास्थों को सुनाकर कहा कि दयानन्दजी जो कुछ कहते हैं, वह सब सत्य और प्रामाणिक है। इसके बाद उन्होंने मूर्तियों को उठाकर गंगा में फेंक दिया और उसी सिंहासन पर वेद भगवान् को प्रतिष्ठित किया। यह देखकर दयानन्दजी ने पण्डितजी के सत्य ग्रहण करने और मिथ्या के त्यागने की बहुत प्रशंसा की।

एक बार बुलन्दशहर के कलेक्टर महोदय मेले के अवसर पर कर्णवास आये। उन्होंने दयानन्दजी की कीर्ति सुन रखी थी और जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि दयानन्दजी आजकल कर्णवास में ही हैं, तो उन्होंने दयानन्दजी के स्थान पर पहुंचकर अपने आने की सूचना दी। दयानन्दजी के सेवकों ने कहा कि भोजन के उपरान्त स्वामीजी लोगों से नहीं मिलते। इस पर कलेक्टर महोदय ने पूछा कि उन्हें कब अवकाश होगा? जब सेवकों ने दयानन्दजी से पूछा, तो

दयानन्दजी ने पुछवाया कि कलेक्टर महोदय अपने काम से कब निवृत्त होंगे? कलेक्टर महोदय ने कहा कि मुझे चार घण्टे के बाद अवकाश-ही-अवकाश है। यह सुनकर दयानन्दजी बाहर निकल आये और उन्होंने कलेक्टर महोदय को आदरपूर्वक बिठाया। दयानन्दजी ने उन्हें बहुत देर तक राज्य-धर्म का उपदेश दिया। कलेक्टर महोदय यह देखकर आश्चर्यचकित हो गये कि केवल संस्कृत का विद्वान् एक भारतीय संन्यासी, जो आधुनिक यूरोपीय शिक्षा से नितान्त अनभिज्ञ है, उसे राजनीति का ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान कहां से प्राप्त हुआ। अन्त में दयानन्दजी ने कहा कि जिसके सिर पर एक परिवार के भरण-पोषण का दायित्व होता है, उसे सिर खुजलाने का भी समय नहीं मिल पाता, परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि आपके कन्धों पर तो सहस्त्रों मनुष्यों के भरण-पोषण का भार है, फिर आपको चार घण्टे बाद अवकाश-ही-अवकाश कैसे है? दयानन्दजी की प्रजा-हित में की गयी इस भर्त्सना को सुनकर कलेक्टर महोदय ने दयानन्दजी को अपने कर्तव्य की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए धन्यवाद दिया और वे वहां से सन्तुष्ट होकर वापस लौट गये।

एक बार जाड़े की रात में गंगा के किनारे एक छोटी-सी नौका आकर लगी और उसमें से दो अंग्रेज उतरकर किसी के आने की प्रतीक्षा करने लगे। तभी वहां दूसरी नाव आयी और उसमें से कई देशी व्यक्ति सामान लेकर उतरे। उन्होंने नदी तट से कुछ दूरी पर एक छीलदारी खड़ी की और अग्नि प्रज्वलित कर दी। साहब लोगों ने चाय-पानी लिया और फिर शिकारी का वेश धारण कर हाथ में बन्दूक लिये और कन्धे पर कारतूस की पेटी डाले शिकार पर निकल पड़े। साथ में दो अरदली भी लम्बे कोट की जेबों में बोलतें भर कर चल दिये। शरीर पर इतने कपड़े होते हुए भी साहब लोगों के हाथ-पांव ठण्ड से शिथिल हो रहे थे। वे बार-बार बोतलों से मदिरा पीते और सिगार जलाते। जब वे नदी के किनारे चल रहे थे, तो साहसा उनकी दृष्टि दयानन्दजी पर पड़ी, जो उस शीत की रात में भी बदन पर एक लंगोटी धारण किये हुए, आंखे बन्द किये बालू पर बैठे थे। उन्हें लगा, मानो चांदी की विशाल शिला पर तप्त सुवर्ण की ऐसी प्रतिमा, जिसे मूर्तिकार ने बड़े परिश्रम से बनाया है, विराजमान है। वे लोग कुछ देर तक वहीं खड़े रहे। जब काफी देर तक दयानन्दजी का ध्यान भंग न हुआ, तो वे एक व्यक्ति को वहीं छोड़कर और उसे यह आदेश देकर कि महात्माजी की समाधि खुलने पर हमें सूचित करना, शिकार के

लिए चल दिये।

शिकार से लौटते समय उन्हें रास्ते में दयानन्दजी के पास छोड़ा हुआ अरदली मिला, जिसने उन्हें बताया कि महात्माजी समाधि से जाग गये हैं, परन्तु आंखें बन्द करके मन्त्रों का पाठ कर रहे हैं। सभी लोग दयानन्दजी के पास पहुंचे और उन्हें प्रणाम किया। दयानन्दजी द्वारा आशीर्वाद देकर परिचय पूछे जाने पर उनमें से एक व्यक्ति बोला कि मैं बदायूं का कलेक्टर हूं और ये मेरे मित्र पादरी हैं। हम यहां स्वदेश से धर्म-प्रचार के लिए आये हैं। हम यह देखकर आश्चर्यचकित हैं कि इस शीत की रात्रि में भी आप एक लंगोट पहने बर्फ के समान ठण्डी बालू पर बैठे हैं। क्या आपको ठण्ड नहीं लगती! इससे पहले कि दयानन्दजी कुछ उत्तर देते एक पादरी ने अपनी ही भाषा में कलेक्टर से कुछ कहा। दयानन्दजी को अंग्रेजी भाषा का ज्ञान नहीं था, फिर भी उन्होंने उस पादरी की बात का आशय समझ लिया और कहा कि क्या यह पादरी यह कह रहा है कि यह संन्यासी हृष्ट-पुष्ट है, बढ़िया-बढ़िया माल खाता होगा, पौष्टिक आहार ग्रहण करता होगा, गांजा-चरस आदि मादक वस्तुओं का सेवन करता हो, तो फिर इसे ठण्ड कैसे लग सकती है? कलेक्टर दयानन्दजी की चमत्कारी बुद्धि और सूझ-बूझ पर हैरान हो गया। तब दयानन्दजी ने कहा कि हम तो केवल दाल-रोटी खाते हैं और जब कोई व्यक्ति बड़े भाग्य से हमें दूध दे देता है, तो पी लेते हैं। परन्तु आप लोग तो गरम व पौष्टिक आहार ग्रहण करते हैं, मदिरा का सेवन करते हैं और तम्बाकू भी पीते हैं। यदि आपके कहे अनुसार माल खाकर जाड़े का कोई असर नहीं होता, तो आइये कपड़े उतारकर और थोड़ी देर मेरे साथ बालू पर बैठिये।

दयानन्दजी का कथन सुनकर पादरी लज्जित होकर उनसे क्षमायाचना करने लगा और बोला—'कृपया आप ही हमें बतायें कि आपको जाड़ा क्यों नहीं लगता?' दयानन्दजी ने कहा—'ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिससे मनुष्य की सम्पूर्ण देह गरमी-सर्दी और अन्य कष्टों को सहन करने के योग्य बनती है।' पादरी द्वारा ब्रह्मचर्य के विषय में पूछे जाने पर दयानन्दजी ने कहा—'योग-शास्त्र में अभ्यासी को पांच यमों का पालन करने की शिक्षा दी गयी है, उनमें से चौथा यम है—ब्रह्मचर्य और आर्यों के चार आश्रमों में पहला आश्रम ब्रह्मचर्य आश्रम है, जिसमें ब्रह्मचारी को स्त्री-सम्भोग आदि व्यसनों से दूर रहकर इन्द्रियों को वश में करना सिखाया जाता है।'

अभी दयानन्दजी ब्रह्मचर्य के विषय में बता ही रहे थे कि कलेक्टर ने सहसा ही बोला—'कहीं आप प्रसिद्ध बाल ब्रह्मचारी दयानन्द सरस्वती तो नहीं!' दयानन्दजी के 'हां' कहने पर एक पादरी ने अंग्रेजी में कहा—'अरे, यह तो भारत में ईसाइयों के कार्य में सबसे बड़ी बाधा है। यदि यहां के लोग इसकी शिक्षा का अनुसरण करने लगे, तो ईसाई पादरी ही क्या, अंग्रेज शासकों को भी यहां से जाना पड़ेगा।' पादरी की बात सुनकर दयानन्दजी मुसकरा दिये। फिर कलेक्टर ने पूछा—'स्वामीजी! हम मदिरा का सेवन किये बिना नहीं रह सकते। इसके पीने में क्या हानि है?' दयानन्दजी बोले—'यह सत्य है कि मादक वस्तुओं का सेवन करने से मनुष्य का मन एक विचार में गड़ जाता है, परन्तु इससे वस्तु के यथार्थ रूप का ज्ञान नहीं होता। यथार्थ ज्ञान तो एक-दूसरे के साथ उनके गुणों की तुलना करने से होता है। जब दूसरे उपायों से मन की एकाग्रता और कष्ट सहन करने की शक्ति प्राप्त हो सकती है, तो मदिरा पान क्यों किया जाये। वास्तविकता तो यह है एक बार मनुष्य के किसी बुरे व्यसन में फंसने पर वह व्यसन भूत की तरह उसके साथ चिपक जाता है और उसे आसानी से नहीं छोड़ता।'

दयानन्दजी का उत्तर सुनकर कलेक्टर महोदय सन्तुष्ट होकर पादरी सहित वहां से चले गये।

दयानन्दजी की हत्या करने की विफल चेष्टा

बरौली के राव कर्णसिंह दयानन्दजी की प्रशंसा और दयानन्दजी द्वारा उनके गुरु रंगाचार्य और वैष्णव सम्प्रदाय की कड़ी आलोचना से बहुत जलते थे। इसी ईर्ष्या के चलते उन्होंने दयानन्दजी की हत्या करने का विचार किया। एक रात उन्होंने अपने कुछ सेवकों को दयानन्दजी की हत्या के लिए भेजा। वे लोग कर्णवास को जाने वाली सड़क पर एकत्रित हुए। उन सभी के हाथ में कोई-न-कोई हथियार था। लेकिन वे लोग बहुत घबराये हुए थे, जैसे उन्हें बहुत कठिन कार्य सौंपा गया हो। उनमें से एक बोला कि मेरा मन उस महापुरुष पर हाथ उठाने को नहीं होता। तभी उसके एक साथी ने कहा—'संतराम! तुम तो हम वैरागियों की नाक कटवाओगे। राव साहब कोई ऐसे वैसे व्यक्ति नहीं हैं।' तत्पश्चात् वे लोग कर्णवास की ओर बढ़े और एक मौजी बाबा की कुटी के समीप पहुंच गये। तभी संतराम ने अपच का बहाना किया और नदी की ओर भागा। जब उसके साथी थोड़े आगे बढ़ गये, तो वह लौटकर मौजी बाबा के पास पहुंचा और उनसे बोला—'बाबाजी! वैरागियों की एक टोली अभी-अभी कर्णवास की ओर महात्माजी को मारने के लिए जा रही है।' इसे सुनकर मौजी बाबा क्रोधित होकर उठ खड़े हुए और चिमटा लेकर दयानन्दजी की कुटी की ओर बढ़े। संतराम अपने साथियों से जा मिलने के लिए दौड़ पड़ा।

उस समय दयानन्दजी अपनी पर्णकुटी में विश्राम कर रहे थे। वैरागियों ने वहां पहुंचकर उस कुटी को चारों ओर से घेर लिया। एक वैरागी बोला—'इस कुटी को आग लगा दो। वह नास्तिक अन्दर ही जलकर राख हो जायेगा।' सभी को यह बात पसन्द आ गयी। जैसे ही वे लोग आगे बढ़े, वैसे ही मौजी बाबा वहां आ गये। वे सभी वैरागी मौजी बाबा के भक्त थे। बाबा को देखते ही वे वैरागी वहां से भाग खड़े हुए। यह सब घटना इतनी चुपचाप घटित हुई कि किसी को पता नहीं चला। दयानन्दजी आराम से अपनी कुटी में सोते

रहे। दूसरे दिन मौजी बाबा ने ठाकुर कैथलसिंह को कहा कि तुम रात में दयानन्दजी को अकेला मत छोड़ा करो; क्योंकि कुछ अज्ञानी उनको अपना शत्रु मान बैठे हैं। तब से कैथलसिंह स्वामीजी के पास रहने लगे।

वैरागियों के असफल होने पर राम महाशय को बहुत दु:ख हुआ, परन्तु उन्होंने हार नहीं मानी और वे बरौली से कर्णवास आ गये। यहां वह स्वामीजी की कुटी के समीप ही एक बारहदरी में डेरा लगाकर रहने लगे। एक रात उन्होंने फिर अपने कुछ सेवकों को हाथों में तलवारें थमाकर स्वामीजी की हत्या का आदेश दिया। वे लोग हाथों में तलवारें लिये स्वामीजी की कुटी की ओर बढ़ने लगे। उस समय स्वामीजी ध्यानस्थ थे और कैथलसिंह सो रहे थे। कुटी के समीप पहुंचकर उन्होंने कान लगाकर सुना। उन्हें किसी के खर्राटों की आवाज आयी। उन्होंने सोचा कि संन्यासी गहरी नींद में सो रहा है। परन्तु उनमें से किसी को भी एक परोपकारी वीतराग महात्मा पर तलवार से वार करने का साहस न हुआ। उनके हाथ कांपने लगे और वे लोग वहां से भाग गये और राव साहब के पास पहुंचे। राव साहब ने उन्हें डांट-डपटकर फिर भेजा। इस बार भी वे लोग स्वामीजी को न मार सके और लौट गये। तीसरी बार भी राव साहब ने उनको पुरस्कार का प्रलोभन देकर स्वामीजी को खत्म करने के लिए भेजा और यह भी धमकी दे दी कि यदि इस बार तुम बिना कार्य सिद्ध किये लौटे, तो तुम्हारी कुशल नहीं। मरते क्या न करते, वे लोग पुन: स्वामीजी की कुटी के समीप पहुंचे।

कैथलसिंह तो अभी भी सो रहे थे, परन्तु स्वामीजी इस समय समाधि खुलने के बाद जाग्रत अवस्था में थे। उन्होंने उन लोगों को अपनी ओर आते देखा, तो वे समझ गये कि कुछ गड़बड़ अवश्य है। उन्होंने उठकर उच्च स्वर से हुंकारा। दयानन्दजी की भयानक सिंहनाद सुनकर उन आततायियों के हाथ-पांव फूल गये और उनके हाथों से तलवारें छूट गयीं। कुछ तो वहां से भाग गये और कुछ वहीं अचेत होकर भूमि पर गिर पड़े। कैथलसिंह भी भयानक शब्द सुनकर उठ बैठे और उन लोगों के आक्रमण की बात सुनकर डर गये तथा दयानन्दजी से बोले—'महाराज! वे लोग पुन: यहां आ सकते हैं। क्यों न हम कहीं दूसरी जगह छिपकर रात व्यतीत करें?' दयानन्दजी ने उन्हें समझाया—'वत्स! संन्यासियों के रक्षक तो स्वयं भक्तवत्सल भगवान् हैं, इसलिए उन्हें अपनी रक्षा के लिए किसी गढ़ या गुहा का आश्रय नहीं ढूंढ़ना

चाहिए। तुम मत घबराओ। यदि हम चाहें, तो उनके शस्त्रों को छीनकर उन्हें सीधा कर सकते हैं, परन्तु संन्यासी का धर्म क्षमा करना है।'

कुछ दिनों पश्चात् राव कणसिंह के पड़ाव पर रासलीला हो रही थी, परन्तु वह इसी उधेड़-बुन में थे कि मेरे दोनों वार खाली गये, अब क्या करना चाहिए। तभी राव महाशय ने किसी को बुलाकर कहा कि जाओ, देखकर आओ कि वह साधु (दयानन्दजी) रासलीला देखने हमारे यहां क्यों नहीं आया? कुछ चापलूस लोग तुरन्त दौड़कर दयानन्दजी के पास गये और वहां से लौटकर राव महाशय को नमक-मिर्च लगाकर कहने लगे—'सरकार! वह साधु बड़ा घमण्डी है। वह कहता है कि मैं ऐसे निन्दनीय कार्य में कदापि सम्मिलित नहीं हो सकता।' यह सुनकर राव महाशय आग-बबूला हो गये और सीधे स्वामीजी के निवास-स्थान की ओर दौड़े। उनके पीछे-पीछे लोगों की भीड़ भी वहां हो ली।

दयानन्दजी ने राव महाशय को देखकर उठकर उनका स्वागत-सत्कार किया और बैठने के लिए कहा। राव साहब ऐंठकर बोले कि मैं कहां बैठूं। स्वामीजी ने कहा—'जहां आपकी इच्छा हो बैठ जाइये।' वह अभिमानी स्वामीजी के आसन पर उनके साथ ही बैठ गया और बोला—'आप रासलीला देखने क्यों नहीं आये? संन्यासी होकर भगवान् का निरादर करते हैं।' दयानन्दजी ने कहा—'क्षुद्र लोगों द्वारा आपके पूज्य पुरुषों का स्वांग भरकर नाचते-गाते देख आपको लज्जा नहीं आती?' कुछ देर तक दोनों में आपसी वाद-विवाद होता रहा। फिर दयानन्दजी ने राव महाशय से पूछा—'राव महाशय! आपके भाल पर यह रेखा-सी क्या है?' राव महाशय बोले—'यह श्री है। इसको धारण न करने वाला चाण्डाल है।' दयानन्दजी के यह पूछने पर कि आप कब से वैष्णव हुए हैं, राव महाशय ने कहा कि कुछ वर्षों से। तब दयानन्दजी ने कहा—'क्या आपके पिता भी वैष्णव थे?' राव महाशय के 'नहीं' कहने पर दयानन्दजी ने कहा—'तब तो आपके कथनानुसार आपके पिता और आप वैष्णव होने से पूर्व चाण्डाल हुए।' यह सुनना था कि राव महाशय ने क्रोध में भरकर अपनी तलवार पकड़ ली और गालियों की झड़ी लगा दी। दयानन्दजी ने हंसते हुए कहा—'महाशय! यदि शास्त्रार्थ करना अभीष्ट है, तो अपने गुरु रंगाचार्य को बुलाइये और ऐसी प्रतिज्ञा कीजिये कि हम में से जो जीत गया, वह दूसरे के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेगा।' अपने गुरु का नाम सुनकर राव

साहब के क्रोध का पारा चढ़ गया और उनका हाथ तलवार पर पहुंच गया। यह देखकर दयानन्दजी ने मुसकराकर कहा—'तुम तलवार का डर किसे दिखाते हो? यदि शस्त्र चलाना ही है, तो मुझ निःशस्त्र संन्यासी पर क्यों चलाते हो, जयपुर या जोधपुर के नरेशों से जाकर युद्ध करो।' यह सुनकर राव महाशय ने अपनी तलवार बाहर निकाल ली। यह देखकर दयानन्दजी ने उसके हाथ से तलवार छीन ली और उसके दो टुकड़े कर धरती पर फेंक दी। फिर राव महाशय से बोले—'मैं संन्यासी हूं, मेरा धर्म है क्षमा करना। इसलिए मैं तुम्हारे इस दुर्व्यवहार से चिढ़कर तुम्हारा अनिष्ट करना तो दूर, उसे मन में भी नहीं लाऊंगा। इसलिए जाओ, ईश्वर तुम्हें सुमति प्रदान करे।' यह सुनकर राव महाशय वहां से चले गये।

वहां उपस्थित लोगों में से एक व्यक्ति ने स्वामीजी को सुझाव दिया कि राव महाशय की रिपोर्ट पुलिस में कर देनी चाहिए। परन्तु स्वामीजी ने यह कह कर मना कर दिया कि संन्यासी का धर्म तो सन्तोष करना है, क्षमा करना है न कि बदला लेना। यदि वह अपने क्षत्रिय धर्म का पालन नहीं कर सका, तो हम अपने ब्राह्मणत्व से क्यों गिरें? ऐसा कहकर दयानन्दजी ने अपने भक्तों को शान्त किया।

दयानन्दजी पर हुए आक्रमण का समाचार सुनकर पंजाबी सैनिक भड़क उठे और दयानन्दजी से राव महाशय को मारने की आज्ञा लेने पहुंचे, परन्तु दयानन्दजी ने उन्हें रोक दिया। जब राव महाशय को सैनिकों और कर्णवास के ठाकुरों के रोष का पता चला , तो वह वहां से भागकर अपने गांव बरौली चले गये। घर पहुंचकर वह बहुत रुग्ण हो गये और उन्होंने चारपाई पकड़ ली। इसके साथ ही उन्हें समाचार मिला की वह प्रयाग में एक पचास सहस्र का मुकदमा हार गये हैं। इस भारी आर्थिक हानि के कारण वह जीते-जी मर गये।

❑❑

दयानन्दजी की विभिन्न यात्राएं

दयानन्दजी सोरों से कासगंज पहुंचे और वहां उन्होंने पं० मुकुन्द राम के उद्यान में निवास किया। कासगंज में दयानन्दजी ने ज्येष्ठ 1925 वि० में पहली पाठशाला की स्थापना की। तत्पश्चात् दयानन्दजी ककोड़ी गये, जहां उन दिनों मेला लगा हुआ था। उस मेले में बलदेव गिरि ने दयानन्दजी के उपदेशों के लिए उचित स्थान पर एक ऊंचा पीठ स्थापित कर दिया। प्रतिदिन बड़े-बड़े पण्डित, पादरी तथा मौलवी दयानन्दजी के पास अपनी शंकाओं का निवारण करने के लिए आने लगे। दयानन्दजी भी अन्धविश्वास और अज्ञान पर आधारित उनके सिद्धान्तों का खण्डन करके उन्हें धर्म की शिक्षा देने लगे।

इस प्रकार दयानन्दजी ने शरीर पर केवल कौपीन पहनकर, कड़ाके की सर्दी, गरमी और सावन-भादों की मूसलाधार वर्षा को सहन करते हुए गंगा के किनारे बसे हुए गांवों में घूम-घूमकर जनता में जागृति उत्पन्न की और उनके अज्ञान को दूर किया। इस समय वे पूर्ण रूप से त्यागी का रूप धारण किये हुए थे। वे भिक्षा नहीं मांगते थे, उन्हें जो रुखा-सूखा मिल जाता, उसे ही ग्रहण करते थे। यद्यपि दयानन्दजी के भक्तों में कई बड़े-बड़े ज़मींदार और रईस लोग भी थे, परन्तु दयानन्दजी ने कभी माया का मोह नहीं किया।

संवत् 1925 के अन्त में दयानन्दजी फ़र्रूख़ाबाद गये और वहां लाला जगन्नाथ के विश्रान्त घाट पर ठहरे। उस समय वहां के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति लाला वंशीलाल ने एक शिवालय बनवाया और उसमें शिव की मूर्ति को स्थापित करने की तैयारियों में लगे हुए थे। तभी उन्होंने दयानन्दजी का उपदेश सुना और अपना निश्चय बदल दिया। दयानन्दजी की प्रेरणा से उन्होंने शिवालय में पाठशाला खोल दी और उसमें प्र० बृजकिशोरजी को अध्यापक नियुक्त कर दिया। उस पाठशाला में लगभग पचास विद्यार्थियों ने प्रवेश लिया, जिन्हें अष्टाध्यायी की शिक्षा दी जाने लगी। अध्यापक के वेतन के व्यय का भार लाला पन्नालालजी ने उठाया और विद्यार्थियों के भोजन-वस्त्र आदि की

व्यवस्था दुर्गाप्रसादजी ने की।

फ़र्रूख़ाबाद में कुछ ऐसे लोग रहते थे, जिन्हें लोग साधु कहते थे, जो घरबारी थे और सभी प्रकार का काम-धन्धा करके अपना निर्वाह करते थे। ऊंची जाति वाले उनके हाथ का बना हुआ भोजन नहीं खाते थे। एक दिन दयानन्दजी के विनय भाव को देखकर एक साधु एक थाल में कढ़ी-भात लेकर दयानन्दजी के पास पहुंचा और उसने दयानन्दजी से भोग लगाने के लिए कहा। दयानन्दजी ने प्रसन्तापूर्वक उसके भोजन को ग्रहण किया। यह देखकर ब्राह्मण लोग क्रोधित होकर कहने लगे कि स्वामीजी! आपने इन अछूतों के हाथ का अन्न खाकर अपने को भ्रष्ट कर लिया है। इस पर दयानन्दजी ने कहा कि यह अन्न पवित्र है; क्योंकि यह इन लोगों के परिश्रम के पैसे का है।

दयानन्दजी के ऐसे वचन सुनकर उन ब्राह्मणों ने पं० गंगाराम शास्त्री और मेरठ के पं० हरिगोपाल आदि को दयानन्दजी से शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार किया। जब पं० हरिगोपाल दयानन्दजी से शास्त्रार्थ में हार गये, तो वे काशी जाकर वहां के पण्डितों से मूर्ति-पूजन की पुष्टि में व्यवस्था लाये और उसे दयानन्दजी के निवास स्थान के पास एक खुले मैदान में झण्डा गाढ़कर लोगों को सुनाने और दयानन्दजी को खुले मैदान में आने के लिए ललकारने लगे। दयानन्दजी ने वहां जाना उचित नहीं समझा। जब कलेक्टर को इस झगड़े का समाचार मिला, तो उसने कोतवाल को वहां भेजा। कोतवाल ने दयानन्दजी से पूछा कि यह क्या गोलमाल है? इस पर दयानन्दजी ने कहा—'भई! हम तो अपने स्थान पर बैठे हैं, हमें क्या पता। हम तो लोगों के अपशब्द सुनकर भी मौन और शान्त रहते हैं।' यह सुनकर कोतवाल को सचाई का पता चल गया और उसने दयानन्दजी के स्थान पर दो सिपाहियों का पहरा लगा दिया और कोतवाली में पं० हरिगोपाल को बुलाकर उसे ऐसी डांट लगायी कि वह नगर छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

वेश्यागमन से मुक्ति

लाला दीनानाथ के पास सब कुछ था—पुत्र, धन-सम्पत्ति, ऐशो-आराम आदि, परन्तु फिर भी वे दुखी रहते थे। वे सदैव भगवान् से कहा करते थे कि भगवान् सब दुःख दे, परन्तु दुराचारी और कुल में कलंक लगाने वाला पुत्र न दे। पुत्र ही जीवन का सर्वस्व है, परन्तु यदि पुत्र कुमार्गी हो जाये, तो वह चिन्ताओं का आगार सागर बन जाता है। जिसका इकलौता पुत्र ही बिगड़ जाये, उस मनुष्य का तो जीवन ही व्यर्थ हो जाता है। दरअसल दीनानाथजी का इकलौता पुत्र गढ़ी के नवाब के लड़के बांके मियां की संगत में पड़कर वैश्यागमन के चक्कर में फंस गया था। वे दोनों मित्र रात-दिन मुन्नी जान के यहां पड़े रहते थे और काम-धन्धे की ओर ध्यान नहीं देते थे। पिता की विवशता देखिये, चूंकि पुत्र अब बड़ा हो चुका था, इसलिए वे न तो उसे मार-पीट सकते थे और न ही उससे अधिक कहा-सुनी कर सकते थे।

एक दिन लाला दीनानाथ इसी चिन्ता में डूबे चले जा रहे थे कि उन्हें दयानन्दजी के एक अनन्य भक्त पन्नालालजी मिले। सेठ पन्नालालजी ने दीनानाथजी के मुख पर चिन्ता की रेखाएं देखकर पूछा—'भाई दीनानाथ! क्या बात है, तुम इतने चिन्तित क्यों दिखाई देते हो। घर में सब कुशल तो है? आपका स्वास्थ्य तो ठीक है?' पन्नालालजी की बात सुनकर दीनानाथजी की आंखें भर आयीं और वह एक गहरी सांस लेकर बोले—'भाई! मैं तो बर्बाद हो गया। मेरा इकलौता पुत्र वेश्याओं के चक्कर में पड़ गया है।'

पन्नालालजी ने कहा—'भाई! इसमें इतना हताश होने वाली कौन-सी बात है। मानवीय चरित्र बहुत जटिल है। बुरे-से-बुरा मनुष्य भी देवता बन जाता है और अच्छे-से-अच्छा मनुष्य भी पशु समान हो जाता है। इसलिए धीरज रखो। भगवान् समय-समय पर मनुष्य की परीक्षा लेता रहता है और सन्तान तो सबसे कठिन परीक्षा है। जिसने धैर्य खो दिया, वह इस परीक्षा में असफल हो जाता है।' दीनानाथजी ने कहा—'मुझे तो कोई उपाय नहीं सूझता।'

पन्नालालजी बोले कि तुमने स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का नाम तो सुना ही होगा। उनकी वाणी में ऐसा प्रभाव है कि उनके वचन सुनकर दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं। उनकी समझाने की शैली अतिउत्तम है। मुझे पूरा यकीन है कि तुम्हारा पुत्र काशीनाथ स्वामीजी के उपदेश सुनकर अवश्य सुधर जायेगा।' यह सुनकर दीनानाथजी के मन में एक उम्मीद जागी और उन्होंने कहा—'सेठजी! तो फिर स्वामीजी से कहकर मेरे पुत्र को सुधरवा दो। मैं आपका बड़ा भारी उपकार मानूंगा। इससे मेरा वंश बच जायेगा।'

पन्नालालजी दीनानाथजी को लेकर दयानन्दजी के पास पहुंचे और उनके चरण स्पर्श करके बोले—'स्वामीजी! यह लाला दीनानाथ हैं और पहली बार आपके दर्शनों के लिए आये हैं। बेचारे बहुत दुखी हैं। इनका इकलौता पुत्र बुरी संगत में पड़कर वैश्यागामी हो गया है। कृपा कर आप उसे सन्मार्ग पर लायें।' स्वामीजी ने कहा कि एक बार उस युवक को मेरे पास लाओ, तो मैं उसे सुधारने का प्रयत्न करूंगा।

वहां से जाने के बाद दीनानाथजी को यह चिन्ता हुई कि काशीनाथ को यहां लाया कैसे जाये। अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि पड़ोस के दो युवकों से सहायता ली जाये। दीनानाथजी ने घर पहुंचकर उन दो युवकों को बुलाया और उनसे काशीनाथ को दयानन्दजी के पास ले जाने के लिए सहायता मांगी। दोनों युवकों ने हां कर दी। वह दोनों युवक प्रयत्न करके काशीनाथ को दयानन्दजी के पास ले जाने में सफल हो गये।

जब वे तीनों युवक दयानन्दजी के पास पहुंचे, तो स्वामीजी ने अपने प्रेम-भरे नेत्रों से उन युवकों को देखा और उनको समझाने लगे—'प्रिय युवको! आजकल हमारे युवकों को सदाचार की उचित शिक्षा नहीं मिलती है। वे पथ-भ्रष्ट होकर नान प्रकार के कुव्यसनों में फंस जाते हैं। वैसे तो सभी व्यसन बुरे हैं, परन्तु वेश्या-वृत्ति सबसे अधिक विनाशकारिणी है। इस व्यसन से सुरापान की आदत पड़ जाती है। सभ्य वेष, सभ्य भाषा, सभ्य आचार आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। कुलाचार पर कठोर कुठाराघात होता है। रात-दिन राग-रंग में मग्न रहने से व्यवहार-बुद्धि का अभाव होने लगता है। ऐसे व्यसनी धर्म-कर्म से दूर रहने लगते हैं। यहां तक कि उनकी सन्तान का सदाचारी रहना भी कठिन हो जाता है।

'यदि वेश्या की बेटी वेश्या बनकर बाजार में बैठेगी, तो किसी भी

वेश्यागामी पुरुष के लिए यह बात अच्छी नहीं है; क्योंकि कोई भी भला मनुष्य नहीं चाहेगा कि उसकी पुत्री वेश्या बने। तुम्हीं सोचो कि क्या यह बुरी बात नहीं है।'

यह उपदेश सुनकर कुव्यसनी युवक के रोंगटे खड़े हो गये। उसका अन्तःकरण पाप-कर्म से कांप उठा। उसके सारे शरीर में सनसनी-सी दौड़ गयी और वह बोला—'स्वामीजी! आपका कथन सत्य है। वास्तव में, वेश्या-प्रेम एक घृणित नीच कर्म है।'

उस व्यसनी युवक ने दयानन्दजी के चरण छूकर प्रण किया कि वह कभी वेश्यागमन नहीं करेगा।

❑❑

सात बार काशी में दयानन्दजी

पुराणों में बनारस का बड़ा माहात्म्य लिखा है। ऐसा माना जाता है कि काशी में निवास करने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। गंगा को तो वैसे ही मोक्षदायिनी माना जाता है और उस पर बनारस में गंगा का बहना, मोक्ष का विश्वास किसे न होगा? इसलिए चाहे वह समाज-सुधारक हो या सत्यधर्म प्रचारक, तब तक विजयी नहीं हो सकता, जब तक कि वह बनारस को अपनी विद्या की शतघ्नी से वश में न कर ले। इसी अभिप्राय से दयानन्दजी पहली बार 1856 में बनारस गये और वहां उन्होंने गंगा और वरुणा दोनों नदियों के संगम पर स्थित एक गुफा में निवास किया। वहां दयानन्दजी ने प्रसिद्ध पण्डित काकाराम तथा पं० राजाराम शास्त्री और कई अन्य विद्वानों से भेंट कर उनसे धर्म सम्बन्धी चर्चा की। दयानन्दजी वहां 12 दिन तक रहे, फिर जब उन्होंने देखा कि यहां उन्हें अपना ध्येय प्राप्त नहीं हो रहा है, तो वे वहां से चाण्डालगढ़ की ओर चल पड़े।

दयानन्दजी 1869 में दूसरी बार काशी गये और इस बार दुर्गाकुण्ड के महाराज अमेठी के आनन्दबाग में निवास किया। स्वामीजी का डेरा दुर्गा मन्दिर की ओर जाने वाली सड़क के बीच मार्ग पर था। जो लोग दुर्गा के दर्शनों के लिए जाते, वह मार्ग में स्वामीजी से मिलने के लिए रुक जाते। दयानन्दजी उन्हें उपदेश देते, जिसे सुनकर लोगों के मन में मूर्तिपूजा के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती और वह मन्दिर न जाकर अपने घर लौट जाते। ऐसा होते-होते मन्दिर की आय कम होने लगी, जिससे पुजारी लोग परेशान हो गये। एक दिन सभी पुजारी इकट्ठे होकर दयानन्दजी से मिलने के लिए गये। दयानन्दजी ने पूछा कि तुम लोगों के आने का क्या प्रयोजन है? पुजारियों ने कहा कि महाराज! अब मन्दिर में कोई नहीं आता, जिससे हमारी आजीविका नष्ट हो रही है। कृपा कर आप अपना स्थान बदल लीजिये। दयानन्दजी मन-ही-मन कहने लगे कि तुम अभी से घबराते हो, मुझे तो तब तक शान्ति

नहीं मिलेगी, जब तक मैं मूर्तिपूजा को जड़मूल से न उखाड़ लूं। ऐसा विचार कर दयानन्दजी ने बनारस का शास्त्रार्थ छपवाया और मूर्तिपूजा के बलपूर्वक खण्डन से पण्डितों को नानी याद दिला दी।

दयानन्दजी सन् 1870 में तीसरी बार मिर्जापुर से गंगातट का भ्रमण करते हुए बनारस पहुंचे। इस बार उन्होंने बनारस के मजिस्ट्रेट ला० माधोदास के बाग में दुर्गाकुण्ड के समीप निवास किया। इस बार दयानन्दजी ने नवीन वेदान्तमतखण्डन पर एक छोटी-सी पुस्तिका 'अद्वैतमतखण्डन' लिखी और बनारस लाइट प्रेस में छपवाकर प्रकाशित की। इस बार दयानन्दजी ने ढाई महीने तक बनारस में निवास किया।

सन् 1872 में दयानन्दजी चौथी बार बनारस पधारे और ला० माधोदासजी के छोटे भाई ला० मधुसूदनदासजी के बाग में ठहरे। इस बार भी उन्होंने दिन-रात मूर्तिपूजा का खण्डन किया। अभी तक दयानन्दजी ने वस्त्र पहनना आरम्भ नहीं किया था और केवल संस्कृत में ही बोलते थे। संवत् 1931 के अन्त में दयानन्दजी ने वस्त्र पहनना और आर्य भाषा में बोलना आरम्भ किया।

सन् 1874 में पांचवीं बार दयानन्दजी बनारस में अपनी पाठशाला देखने के लिए पधारे और गोसांई रामप्रसादजी उदासी के बाग में ठहरे। इस समय उन्होंने दो महीने तक बनारस में निवास किया।

सन् 1876 में दयानन्दजी छठी बार काशी पधारे और यहां उन्होंने उत्तमगिरि के बगीचे में निवास किया। इसी वर्ष में दिल्ली का दरबार था, इसलिए काशी से छलेसर और अलीगढ़ होते हुए दिल्ली गये और वहां राजकीय दरबार में सम्मिलित हुए।

सन् 1879 में दयानन्दजी ने बनारस के सभी निवासियों और काशी के पण्डितों को अपने आने की सूचना के साथ-साथ मूर्तिपूजा विषय पर सार्वजनिक शास्त्रार्थ करने के लिए सबको चुनौती दी।

शास्त्रार्थ के लिए छपे विज्ञापन में लिखा था—सब सज्जनों को विदित किया जाता है कि इस समय पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज काशी में आकर जो श्रीयुत महाराजे विजयनगर के अधिपति का आनन्द बाग महमूदगंज के समीप है, उसमें निवास करते हैं। वे वेदमत का ग्रहण करके उसके विरुद्ध कुछ नहीं मानते। किन्तु जो ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव और वेदोक्त 1. सृष्टिक्रम, 2. प्रत्यक्षादि प्रमाण, 3. आप्तों का आचार और सिद्धान्त

तथा 4. अपने आत्मा की पवित्रता और उत्तम विज्ञान से विरुद्ध होने के कारण जो पाषाणादि मूर्तिपूजा, जल और स्थलविशेष में पाप निवारण करने की शक्ति, व्यास मुनि आदि के नाम पर छल से प्रसिद्ध किये नवीन व्यर्थ पुराण नामक ब्रह्मवैवर्त आदि ग्रन्थ, परमेश्वर के अवतार व ईश्वर का पुत्र होकर अपने विश्वासियों के पाप क्षमा करके मुक्ति देनेहारे का मानना, उपदेश के लिए अपने मित्र पैगम्बर को पृथ्वी पर भेजना, पर्वतों का उठाना, मुर्दों को जिलाना, चन्द्रमा का खण्ड करना, कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति मानना, ईश्वर को नहीं मानना, स्वयं ब्रह्म बनना, अर्थात् ब्रह्म से अतिरिक्त वस्तु कुछ भी न मानना; जीव ब्रह्म को एक ही समझना, कण्ठी, तिलक और रुद्राक्ष आदि धारण करना और शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपतादि सम्प्रदाय आदि हैं, इन सबका खण्डन करते हैं। इससे इस विषय में जिस किसी वेदादि शास्त्रों के अर्थ जानने में कुशल, सभ्य, शिष्ट, आप्त विद्वान् को विरुद्ध जान पड़े, वह अपने मत का स्थापन और दूसरे के मत का खण्डन करने में समर्थ हो, वह स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ करके पूर्वोक्त व्यवहारों का स्थापन करे। इससे विरुद्ध मनुष्य कभी नहीं कर सकता। इस शास्त्रार्थ में वेद मध्यस्थ रहेंगे। वेदार्थ निश्चय के लिए जो ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त के बनाये ऐतरेय ब्राह्मण से लेकर पूर्वमीमांसा पर्यन्त वेदानुकूल आर्षग्रन्थ हैं, वे वादी और प्रतिवादी उभय पक्ष वालों को माननीय होने के कारण, माने जायेंगे और जो इस सभा में सभासद हों, वे भी पक्षपातरहित, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप तथा साधनों को ठीक-ठीक जानने, सत्य के साथ प्रीति और असत्य के साथ द्वेष रखने वाले हों, इनसे विपरीत नहीं। दोनों पक्ष वाले जो कुछ कहें, उसको शीघ्र लिखने वाले तीन लेखक लिखते जायें। वादी और प्रतिवादी अपने-अपने लेख के अन्त में अपने-अपने लेख पर स्वहस्ताक्षर से अपना-अपना नाम लिखें तथा जो मुख्य सभासद् हों, वे भी दोनों के लेख पर हस्ताक्षर करें। उन तीन पुस्तकों में से एक वादी, दूसरा प्रतिवादी को दे दिया जाये और तीसरा सब सभा की सम्मति से किसी प्रतिष्ठित राजपुरुष की सभा में रखा जाये, जिससे कोई अन्यथा न कर सके। जो इस प्रकार होने पर कि काशी के विद्वान् लोग सत्य और असत्य का निर्णय करके औरों को न करायेंगे, तो उनके लिए अत्यन्त लज्जा की बात है; क्योंकि विद्वानों का यही स्वभाव होता है, जो सत्य और असत्य को ठीक-ठीक जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य

का परित्याग कर, दूसरों को कराकर, आप आनन्द में रहना और दूसरों को आनन्द में रखना।

यह विज्ञापन छपवाकर काशी के राजकीय मार्गों, बाजारों, गलियों, मन्दिरों और घाटों पर लगावा दिया गया और इसकी बहुत-सी प्रतियां हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू समाचारपत्रों में भी भेज दी गयीं। इसके साथ ही इस विज्ञापन की बहुत-सी प्रतियां भारतवर्ष के समस्त बड़े-बड़े नगरों में भिजवाई गयीं, ताकि ऐसे संकट के समय, यदि कोई अन्य विद्वान् पण्डित काशी वालों की सहायता करना चाहे, तो वह काशी पहुंच जाये। दयानन्दजी के विज्ञापन से पूरे नगर में कोहराम मच गया।

दयानन्दजी के विज्ञापन को पढ़कर जब कोई भी इस प्रकार शास्त्रार्थ के लिए सन्मुख नहीं हुआ और न ही किसी ने शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की, तो दयानन्दजी ने सार्वजनिक व्याख्यान द्वारा झूठे मतों की वास्तविकता लोगों के सामने लाना ही उचित समझा और एक विज्ञापन प्रकाशित करवा दिया कि 'वेदविद्या के पूर्ण विद्वान् पण्डित दयानन्द सरस्वती बंगाली टोले के प्रिपरेटरी स्कूल में 20 दिसम्बर, 1879 को व्याख्यान करेंगे। आशा है कि सब सज्जन आकर लाभ उठायेंगे।' उसी दिन, उसी स्थान और उसी समय कर्नल साहब का भी व्याख्यान था।

बनारस के लोगों ने सोचा कि शास्त्रार्थ न करने की लज्जा से अभी भी हमारा सिर झुका जा रहा है, ऊपर से स्वामीजी बार-बार विज्ञापन लगवाकर हमें यह याद दिलाते ही हैं, जिससे हमारा सिर शर्म से और झुक जाता है। इस पर अब वे व्याख्यान देने लगे, जिससे हमारा रहा-सहा सम्मान भी चला जायेगा। ऐसा सोचकर पक्षपाती पण्डितों ने मिस्टर वाल साहब कलेक्टर बनारस को एक प्रार्थना-पत्र दिया, जिसमें लिखा था कि स्वामीजी के व्याख्यानों से बनारस में दंगा भड़क सकता है, इसलिए उनके व्याख्यान पर प्रतिबन्ध लगाया जाये।

यही कारण था कि जब दयानन्दजी व्याख्यान के लिए बंगाली टोले के प्रिपरेटरी स्कूल के द्वार पर पहुंचे, तो उन्हें मजिस्ट्रेट साहब की एक चिट्ठी दी गयी, जिसमें लिखा था कि इस समय बनारस में कोई धार्मिक शास्त्रार्थ नहीं होना चाहिए।

कलेक्टर साहब ने लिखित आज्ञा द्वारा दयानन्दजी का व्याख्यान तो

स्थगित करा दिया, परन्तु कर्नल आल्काट साहब, जो अमेरिका की ब्रह्मोपासक सभा के प्रधान थे और दयानन्दजी के धार्मिक विश्वास को मानने वाले थे, उनके व्याख्यान पर प्रतिबन्ध लगाना सरल न था। कर्नल साहब ने वहां अंग्रेजी भाषा में व्याख्यान दिया। व्याख्यान की समाप्ति पर वहां उपस्थित एक व्यक्ति ने इस बात पर अपना मुंह खोला कि यदि कलेक्टर साहब ने स्वामीजी के व्याख्यान का इस विचार से निषेध किया था कि उससे कुछ मतावलम्बी बुरा मानेंगे, तो एक अंग्रेज के व्याख्यान पर वही कारण क्यों नहीं लागू हो सकता? यदि कलेक्टर साहब को मजहबी वैमनस्य का इतना ही विचार है, तो उनके लिए उचित यही है कि तत्काल एक आज्ञा जारी करें कि किसी भी रंग और जाति का पक्षपात किये बिना, किसी का भी धार्मिक उपदेश नहीं होने पायेगा।

इस आलोचनां पर कलेक्टर साहब ने दयानन्दजी पर व्याख्यान देने के प्रतिबन्ध को हटा लिया और दयानन्दजी ने 1880 से बनारस में उपदेश करना आरम्भ कर दिया। इस बार दयानन्दजी ने 14 व्याख्यान दिये। तत्पश्चात् स्वामीजी ने 6 व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों की समाप्ति के अन्तिम दिन, अर्थात् 18 अप्रैल, सन् 1880 को स्वामीजी के सन्मुख सभासदों ने बड़ी धूमधाम के साथ आर्यसमाज की स्थापना की, जो अभी तक विद्यमान है। इसके बाद दयानन्दजी लखनऊ चले गये।

❑❑

मिर्जापुर में दयानन्दजी

काशी से होते हुए दयानन्दजी प्रयाग गये और वहां से मिर्जापुर। मिर्जापुर में उन्होंने रामरत्न के बाग में निवास किया और अपना कार्य आरम्भ किया। दयानन्दजी के वहां पहुंचने पर लोगों ने उनके बारे में कानाफूसी आरम्भ कर दी। बुढ़वा महादेव के मन्दिर में वहां के पुजारी, एक सेठ और जगन्नाथ मालवीय भी आपस में दयानन्दजी की बुराई करने लगे।

पुजारी बोला—'यह नास्तिक दयानन्द यहां भी आ गया। काशी में हुए तिरस्कार से उसका पेट नहीं भरा कि वह अब भी हमारा और हमारे देवताओं का उपहास करता है।' सेठ ने कहा—मैं तो दयानन्द से अत्यन्त घृणा करता हूं। एक दिन मैं अपने छोटे पुत्र मुन्ना को लेकर उससे मिलने चला गया। मुन्ना को देखकर उसने कहा कि सेठजी! आपका यह पौत्र अत्यन्त होनहार लगता है। मैंने कहा कि महाराज! यह मेरा पौत्र नहीं मेरा सबसे छोटा पुत्र है। इतना सुनते ही वह तीखे स्वर में बोला कि आपने वृद्धावस्था में विवाह करके घोर पाप किया है। आपने अपनी काम-पिपासा को शान्त करने के लिए एक तरुण स्त्री के जीवन के साथ खिलवाड़ किया है। यह सब मेरे पुत्र ने भी सुनी और घर जाकर अपनी मां से कह दी, जिसे सुनकर मुन्ना की मां का चेहरा उतर गया। उसी दिन से मैं दयानन्द को अपनी आंखों का कांटा समझता हूं और उस कांटे को किसी भी प्रकार दूर करना चाहता हूं।'

सेठ की बात सुनकर वहां बैठे एक दाढ़ी वाले व्यक्ति ने ललचाई आंखों से पुजारी की ओर देखा। फिर पुजारी ने सेठ से कहा—'सेठजी! आप चिन्ता न करें। इस कार्य में हम आपका साथ देंगे। यह ओझाजी प्रसिद्ध मन्त्र-शास्त्री हैं और अभी-अभी यहां पधारे हैं। इनके पास ऐसे-ऐसे सिद्ध मन्त्र हैं, जिनका पुरश्चरण कराने से बड़े-से-बड़ा संकट दूर हो जाता है। ये बहुत थोड़े धन से ही काम चला लेते हैं।' यह सुनकर सेठजी ने पुरश्चरण के लिए हां कर दी और मुनीम से आवश्यक धन और सामग्री प्राप्त करने के लिए कह दिया।

ओझा ने शिकार को फंसता देखकर कहा—'सेठजी! मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि पुरश्चरण आरम्भ करने के इक्कीसवें दिन दयानन्द इस संसार से विदा हो जायेगा।' पुजारी ने भी बहती गंगा में हाथ धोने की सोची और कहा—'सेठजी! ओझा के अनुष्ठान का प्रभाव तो तीन सप्ताह बाद पड़ेगा, मैं कल-परसों में ही उसे ठीक कर दूंगा। बस, लोगों को खिलाने-पिलाने के लिए थोड़े रुपयों का प्रबन्ध करना होगा।' इतना सुनते ही सेठ ने अपनी जेब से रुपये निकालकर पुजारी को दे दिये।

सन्ध्या के समय स्वामीजी अपने आसन पर विराजमान होकर अपने भक्तजनों के साथ धर्म चर्चा में मग्न थे कि वहां पुजारी बहुत-से लोगों के साथ आ गया और स्वामीजी से सटकर बैठकर ऊटपटांग बकने लगा। दयानन्दजी समझ गये कि यह यहां झगड़ा करने के उद्देश्य से आया है। स्वामीजी ने उसे शान्ति से समझाने का प्रयास किया, परन्तु वह कहां सुनने वाला था। पास ही एक दोने में बताशे रखे थे, उसमें से एक-एक बताशा निकाल खाने लगा। स्वामीजी ने उससे कहा कि क्यों बार-बार बताशों को हाथ लगाकर जूठा करते हो। जितनी इच्छा हो, एक बार में ही क्यों नहीं ले लेते? यह सुनकर पुजारी बोला—'बच्चा! हम तुम्हारे गुरु हैं और तुम हमारी ही जूठन से घृणा करते हो। ठहरो, हमारे देवताओं का खण्डन करने का मजा मैं तुम्हें चखाता हूं।' यह सुनकर पुजारी के साथ आये लोग और समीप आ गये।

स्वामीजी ने जब देखा कि ये लातों के भूत हैं, बातों से नहीं मानेंगे, तो उन्होंने कड़ककर कहा—'रामगोपाल! अन्दर से जरा मेरा सोटा तो लाना। मैं अकेले ही इन दुष्टों को सीधा करता हूं।' इतना सुनना था कि पुजारी दूर हट गया और पुजारी को दूर हटता देखकर उसके साथ आये लोग भी दूर हटने लगे।

वहां से उठकर पुजारी चल दिया और कुछ आगे जाकर उसने अपने लोगों से मन्त्रणा की। रात के समय जब दयानन्दजी पण्डित रामप्रसाद को कोई शास्त्रीय विषय समझा रहे थे, तभी वहां दो हट्टे-कट्टे व्यक्ति आये और छेड़-छाड़ करने लगे। रामप्रसाद और स्वामीजी द्वारा समझाये जाने पर भी वे लोग न माने और स्वामीजी को मारने के लिए दौड़े। यह देखकर स्वामीजी ने खड़े होकर प्रबल हुंकार-नाद किया, जिसे सुनकर वे दोनों कांपने लगे और मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़े। पं० रामप्रसाद ने उनके मुख पर पानी

डालकर उन्हें सचेत किया। तब दयानन्दजी ने कहा कि हम संन्यासी हैं और संन्यासी किसी को मारते-पीटते नहीं, इसलिए तुम निर्भय होकर अपने घर जाओ और भविष्य में कभी किसी संन्यासी को मत सताना।

कुछ दिनों बाद सेठ के गले में भयंकर फोड़ा निकल आया, जिस कारण उसे खाने-पीने, बोलने, यहां तक कि थूक निगलने में भी कठिनाई होने लगी। उसकी अवस्था दिन-प्रतिदिन बिगड़ती ही चली गयी। एक दिन ओझा सेठजी के पास आया और बोला—'सेठजी! अनुष्ठान की समाप्ति का दिन समीप आ गया है, इसलिए बलिदान की सामग्री का प्रबन्ध करवा दीजिये। जैसे ही अनुष्ठान समाप्त होगा, वैसे ही दयानन्द का सिर धड़ से अलग हो जायेगा।' यह सुनकर सेठ ने दर्द से तड़पते हुए कहा—'बन्द करो अपना यह अनुष्ठान। यह सब व्यर्थ है। दयानन्द का सिर धड़ से अलग हो ना हो, मेरे प्राण मेरे शरीर से अवश्य ही अलग हो जायेंगे।' इस प्रकार मन्त्र-प्रयोग अधूरा ही रह गया।

तत्पश्चात् दयानन्दजी ने मिर्जापुर में एक पाठशाला की स्थापना की और काशी चले गये।

❑❑

अंग्रेज अफसर को धर्म का शिक्षा

काशी से होते हुए स्वामीजी कासगंज गये और वहां उन्होंने अपने द्वारा स्थापित की हुई वैदिक पाठशाला का निरीक्षण किया। कासगंज की पाठशाला का निरीक्षण कर स्वामीजी रामघाट पहुंच गये। वहां उन्होंने लोगों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी और कुमारों से कहा कि पच्चीस वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन करो और विवाहितों को उपदेश दिया कि गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्री का ध्यान स्वप्न में भी ना लाओ। रामघाट से दयानन्दजी सोरों आदि स्थानों से होते हुए फ़र्रूख़ाबाद गये। वहां उन्होंने पाठशाला में कुछ गड़बड़ देखी, तो सेठ पन्नालाल के स्थान पर श्री निर्भयराम को पाठशाला का प्रबन्धक और पण्डित युगलकिशोर को मिर्ज़ापुर से बुलाकर प्रधानाध्यापक नियुक्त किया। यहां से स्वामीजी कर्नवास, अनूपशहर आदि स्थानों पर गये और फिर फ़र्रूख़ाबाद लौट आये। फ़र्रूख़ाबाद से दयानन्दजी डुमरांव पहुंचे, जहां नाग बाबू ने उनका आतिथ्य किया। डुमरांव से दयानन्दजी नाग बाबू के साथ आरा गये। आरा में हरवंश रायजी के निवेदन पर दयानन्दजी रेल द्वारा यात्रा कर पटना गये, जहां डिप्टी सोहनलाल आदि लोगों ने उनका स्वागत किया। पटना में दयानन्दजी महाराजा भूपसिंह के रोशबाग में ठहरे।

पटना से दयानन्दजी मुंगेर गये। दयानन्दजी मुंगेर जाने के लिए प्लेटफार्म पर गाड़ी का इन्तजार करते हुए घूम रहे थे। उस समय उनके शरीर पर केवल एक कौपीन थी। उसी प्लेटफार्म पर एक अंग्रेज दम्पत्ति कुरसियां बिछाये बैठा था। वह अंग्रेज रेल-विभाग का एक बड़ा अधिकारी था। अंग्रेज की पत्नी ने जब दयानन्दजी को देखा, तो उसने अपने पति से कहा—'यह कौन असभ्य व्यक्ति नंगा-धड़ंगा यहां घूम रहा है?' उस अंग्रेज-अधिकारी ने तुरन्त ही स्टेशन मास्टर को आदेश दिया कि नंगा होकर घूमने वाले इस व्यक्ति को कहो कि वह इस प्रकार सार्वजनिक स्थान पर न घूमे। जब स्टेशन मास्टर दयानन्दजी

के पास पहुंचा, तो उनके मुख की चमक देखकर अंग्रेज-अधिकारी द्वारा दिये गये आदेश को सुनाने की हिम्मत न कर सका। बस इतना ही बोला—'भगवन्! गाड़ी आने में अभी विलम्ब है, मैं दूसरी ओर चलकर आपके लिए कुरसी रखवा देता हूं, आप वहां चलकर विश्राम कीजिये।' दयानन्दजी संन्यासी थे और व्यक्ति के मन की बात को पढ़ सकते थे, इसलिए उन्होंने वास्तविकता को जानते हुए हंसकर उससे कहा—'महाशय! अपने साहब से जाकर कह दो कि मैं उस युग का मनुष्य हूं जिस युग में बाबा आदम और माता हव्वा अदन के उद्यान में नंगे घूमने में तनिक भी लज्जा अनुभव नहीं करते थे।' दयानन्दजी की बात सुनकर स्टेशन मास्टर ने सम्मानपूर्वक उनसे पूछा—'महाराज! आप कौन हैं और कहां से आये हैं। कृपया मुझे अपना परिचय दीजिये।' दयानन्दजी ने कहा—'मैं संन्यासी हूं और संन्यासी का कोई परिचय नहीं होता। मैं एक जनसेवक हूं और मेरा नाम दयानन्द सरस्वती है। मैं धर्म-प्रचार के लिए पटना से मुंगेर जा रहा हूं।'

दयानन्दजी का नाम सुनते ही स्टेशन मास्टर का सिर श्रद्धा से उनके चरणों में झुक गया। उसने तुरन्त ही एक कुरसी मंगवाई और उस पर दयानन्दजी को बैठने का निवेदन किया। फिर वह भागकर अंग्रेज अफसर के पास गया और बोला—'साहब! यह संन्यासी कोई साधारण साधु नहीं है। यह तो प्रसिद्ध समाज-सुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी हैं। लाट साहब तक इनका आदर करते हैं।' स्टेशन मास्टर की बात सुनकर अंग्रेज अफसर तुरन्त उठ खड़ा हुआ और स्वामीजी के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके बोला—'स्वामीजी! मैं बहुत समय से आपके दर्शनों की अभिलाषा लिये था। आज सौभाग्य से आपके दर्शन हो गये हैं। मैं अपने आपको धन्य मानता हूं।' स्वामीजी ने उसके जुड़े हुए हाथों को पकड़कर उसे आशीर्वाद दिया। फिर उन दोनों में विभिन्न विषयों पर वार्तालाप आरम्भ हो गया। उन दोनों को वार्तालाप करते देखकर बहुत सारे व्यक्ति वहां इकट्ठे हो गये। उनमें से एक बंगाली युवक भी था।

अंग्रेज के आग्रह करने पर स्वामीजी ने उपदेश दिया—'परमात्मा के रचे हुए पदार्थ सब प्राणियों के लिए एक समान हैं। सूर्य-चन्द्रमा भी सबको एक समान ही प्रकाश देते हैं। वायु और जल आदि वस्तुएं भी सबको समान रूप से दी गयी हैं। जिस प्रकार ईश्वर द्वारा दिये गये पदार्थ और उनके लाभ सबके

लिए समान हैं, उसी प्रकार ईश्वर प्रदत्त धर्म भी सब मनुष्यों के लिए एक समान ही होना चाहिए। यदि कोई जिज्ञासु उस धर्म की खोज में मतावलम्बियों और सम्प्रदायों में भटकता रहे और उनके कथनों पर विश्वास करके धर्म को जानना चाहे, तो उसे सच्चे धर्म का ज्ञान कभी नहीं मिल सकेगा। परन्तु सब में से सार को निकाल लेने पर उसे यह ज्ञात हो जायेगा कि थोड़ा-बहुत सत्य सब मतों में पाया जाता है।'

स्वामीजी के उपदेश सुनकर अंग्रेज-अफसर ने दयानन्दजी से अपने साथ भोजन करने का आग्रह किया। इस पर दयानन्दजी ने कहा कि साथ में भोजन करने में धर्माधर्म तो नहीं है, परन्तु फिर भी जब तक आप लोग मांस-मदिरा का सेवन नहीं छोड़ देते, तब तक मैं आपके साथ भोजन नहीं कर सकता।

दयानन्दजी का उपदेश सुनकर वहां खड़े सभी लोग प्रभावित हुए, परन्तु वह बंगाली युवक फूट-फूटकर रोने लगा। उसे रोता देखकर स्वामीजी ने उससे रोने का कारण पूछा, तो वह बोला—'स्वामीजी यदि ऐसा उपदेश मुझे पहले मिला होता, तो मैं ब्राह्मण से ईसाई कदापि नहीं बनता।'

इतने में इंजन की सीटी बजी। गार्ड ने भी सीटी बजाई और हरी झण्डी दिखा दी। गाड़ी धीरे-धीरे चलने लगी। अंग्रेज अफसर ने स्वामीजी को प्रणाम किया और अपने स्थान को लौट गया।

मुंगेर और भागलपुर का वृत्तान्त

दयानन्दजी ने मुंगेर पहुंचकर एक कबीर पन्थियों की पुष्पवाटिका में निवास किया। इस स्थान के समीप ही गंगा की धारा बह रही थी। मुंगेर में भी दयानन्दजी ने अपना प्रचार कार्य आरम्भ कर दिया।

एक दिन कहार ने स्वामीजी की रसोई के लिए एक टाल वाले से कहा—'यहीं पास में एक स्वामीजी रहते हैं। उनका भोजन बनाने के लिए थोड़ी सूखी लकड़ी दे दो।' इस पर टाल वाले ने कहा—'हम नहीं जानते कि कौन स्वामी है। यहां लकड़ी बेची जाती है, बांटी नहीं जाती। इसलिए जाओ हम नहीं देते लकड़ी।' जब कहार वापस लौटा, तो स्वामीजी ने अपने एक भक्त से कहा—'राजनाथ! इसको जूता मारो।' राजनाथजी चकित हो गये और पूछने लगे कि इसका क्या आपराध है। तब स्वामीजी ने बताया कि यह धन की भिक्षा मांगने गया था। तब रामनाथजी ने कहार से पूछा कि तू कहां गया था। कहार ने बताया कि वह लकड़ी मांगने गया था। फिर स्वामीजी ने उसे समझाया कि यदि कभी भिक्षा मांगोगे, तो हम तुम्हें निकाल देंगे। इस घटना से यह विदित होता है कि स्वामीजी किसी से कुछ नहीं मांगते थे।

एक दिन भोजन के समय स्वामीजी के पास मौनी साधु आये और चुपचाप मौन होकर बैठ गये। स्वामीजी ने दो-चार बातें पूछीं, परन्तु मौनी साधु ने कोई उत्तर नहीं दिया। फिर स्वामीजी ने उनसे भोजन के लिए पूछा, तो उन्होंने हां कर दी। स्वामीजी ने उन्हें भोजन कराया। भोजन करने के बाद स्वामीजी ने एक श्लोक पढ़ा और समझाया कि यदि तू मूर्ख है, तो मेरा मौन रहना उचित है, यदि पण्डित है, तो कुछ बातचीत कर। इस पर मौनी साधु बोले, तब स्वामीजी ने उनके सामने मूर्तिपूजन और पुराणों का खण्डन किया, जिसे उन्होंने स्वीकार किया।

मुंगेर में स्वामीजी 15 दिन तक रहे। उसके बाद स्वामीजी भागलपुर गये। भागलपुर में स्वामीजी युधिष्ठिरनाथ के मन्दिर में ठहरे। यहां भी स्वामीजी

ने अपना प्रचार आरम्भ कर दिया। बहुत-से ब्राह्मण और पण्डित इकट्ठे हो जाते और सभा आरम्भ हो जाती। स्वामीजी मूर्तिपूजा का खण्डन करते और सब पण्डित उसे सुनते, कोई कुछ न बोलता। स्वामीजी की संस्कृत सुनकर लोग दांतों तले अंगुलि दबा लेते। अग्रवाल जाति का एक बनिया दो-तीन दिन तक एक लोटा दूध और अन्नादि भिजवाता रहा। उसको विश्वास था कि स्वामीजी के आतिथ्य से उसको पुत्र की प्राप्ति होगी। स्वामीजी ने दो दिन तो लिया, तीसरे दिन फेर दिया और कहा—'स्वार्थ वाली भिक्षा हम नहीं लेंगे। हम ईश्वर नहीं कि तुमको पुत्र दें और तुम्हारा अन्न खायें।' यद्यपि उस बनिये ने अपना अभिप्राय प्रकट नहीं किया था, फिर भी स्वामीजी ने उसके बतलाने से पहले बता दिया।

भागलपुर में एक आचारी था, जो सब लोगों को स्वामीजी के दर्शन और उपदेश सुनने से रोकता था, परन्तु किसी ने उसका कहा नहीं माना और सब लोग स्वामीजी के पास उपदेश सुनने के लिए जाते रहे। लोगों ने आचारी को शास्त्रार्थ के लिए कहा, परन्तु वह न गया और कहता रहा कि काशी में उसने महादेव की निन्दा की है, यहां भी लोग इसकी ओर जाने लगे, यह बहुत बुरा हुआ। जब उसकी दाल न गली, तो विवश होकर वह नगर छोड़कर भाग गया।

भागलपुर में निवास के बाद स्वामीजी कलकत्ता के लिए निकल पड़े।

❑❑

कलकत्ता और हुगली का वृत्तान्त

कलकत्ता में चन्द्रशेखर सेन बैरिस्टर ने हवड़ा स्टेशन पर स्वामीजी का सत्कार किया। कलकत्ता में स्वामीजी राजा सुरेन्द्र मोहन के प्रमोद-कानन में ठहरे। स्वामीजी के कलकत्ता पधारने पर यह समाचार चारों ओर फैल गया कि एक बड़ा प्रबल मूर्ति भंजक हिन्दू, अर्थात् पण्डित दयानन्द सरस्वती, जिसने अभी कुछ समय पहले बनारस के सर्वश्रेष्ठ पण्डितों को एक सार्वजनिक शास्त्रार्थ में पराजित किया है और अपने अन्य कार्यों से पूर्वी भारत में बड़ी प्रसिद्धि पायी है, कलकत्ता आया है। यह समाचार सुनते ही बड़े-बड़े विद्वान् और प्रतिष्ठित व्यक्ति उनसे मिलने के लिए आने लगे।

एक दिन पण्डित हेमचन्द्र चक्रवर्ती—जो पक्के ब्रह्मसमाजी थे—स्वामीजी से शास्त्रार्थ के लिए पहुंचे। उन्होंने स्वामीजी से प्रश्न किया कि जाति भेद है या नहीं? इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया कि मनुष्य एक जाति, पशु एक जाति और पक्षी एक जाति—जाति भेद इस प्रकार है। स्वामीजी का उत्तर सुनकर वे मौन हो गये। तब स्वामीजी ने कहा कि तुम्हारा प्रश्न वास्तव में यह है कि वर्णभेद है या नहीं? तब पण्डित हेमचन्द्र चक्रवर्ती ने कहा कि हां, मेरा अभिप्राय यही था। स्वामीजी ने इसका उत्तर देते हुए कहा—'निस्सन्देह वर्णभेद है। जो वेदज्ञ और पण्डित है, वह ब्राह्मण; जो उससे न्यून और युद्धरत हैं और ज्ञानवान् हैं, वे क्षत्रिय; जो व्यापार करते हैं, वे वैश्य और जो मूर्ख हैं, वे शूद्र।' स्वामीजी का उत्तर सुनकर पण्डितजी बहुत प्रभावित हुए और उनके अनुगामी बन गये और उनसे उपनिषदों का अध्ययन करने लगे।

जब स्वामीजी कलकत्ता पधारे, तब केशवचन्द्र सेन कलकत्ता में नहीं थे। बाहर से लौटने पर जब वह स्वामीजी से भेंट करने के लिए गये, तब उन दोनों में बहुत देर तक बातचीत हुई। तब तक स्वामीजी से उनका परिचय नहीं हुआ था। बातचीत की समाप्ति पर केशवचन्द्र सेन ने स्वामीजी से पूछा—'क्या आप केशवचन्द्र सेन से मिले हैं?' स्वामीजी ने कहा—'हां, मिला हूं।' तब

केशवचन्द्र ने पूछा—'वे तो कहीं बाहर गये हुए थे, आप उनसे कब मिले?' इस पर स्वामीजी ने कहा—'अभी मिल रहा हूं। तुम ही तो केशवचन्द्र सेन हो।' केशवचन्द्र ने आश्चर्य से पूछा—'आपने मुझे कैसे पहचाना?' इस पर स्वामीजी ने कहा—'ऐसी बातें केशवचन्द्र के अतिरिक्त किसी की हो ही नहीं सकतीं।' उसी समय से उन दोनों की परस्पर बहुत प्रीति हो गयी। केशवचन्द्र स्वामीजी के पास नित्यप्रति आते और घण्टों वार्तालाप करते रहते।

केशवचन्द्र सेन अंग्रेजी के विद्वान् थे। उन्होंने स्वामीजी को कहा—'स्वामीजी! मुझे खेद है कि वेदों का महान् ज्ञाता अंग्रेजी नहीं जानता।' इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया—'मैं भी ब्रह्मसमाज के नेता के संस्कृत न जानने पर वैसा ही खेद प्रकट करता हूं, जो कि एक सभ्य धर्म, भारत के लोगों को उस भाषा (अंग्रेजी) में सिखलाने का दावा करता है, जिसको वह प्राय: समझ भी नहीं सकते।' उन्होंने अंग्रेजी में एक ग्रन्थ लिखा था, जिसके आरम्भ में एक श्लोक लिखा था। उस श्लोक में ईश्वर के चरण इत्यादि का वर्णन था। इस श्लोक की संस्कृत भी शुद्ध नहीं थी। स्वामीजी ने केशवचन्द्र से कहा कि एक तो इस श्लोक के पद शुद्ध नहीं हैं और दूसरे परमेश्वर के पांव नहीं होते और यदि इस श्लोक को गुरु पर लगाओ, तो वह व्यापक नहीं। स्वामीजी के इस सुझाव से केशवचन्द्र ने उस श्लोक को निकालकर उसके स्थान पर स्वामीजी द्वारा बताये गये वेद-मन्त्र रखे।

स्वामीजी केशवचन्द्र सेन का बहुत सम्मान करते थे। एक दिन सेन महोदय ने स्वामीजी से कहा—'स्वामीजी! आप मेरी दो बातें मान लीजिये। एक, तो आप वस्त्र धारण किया करें और दूसरे, आप अपने व्याख्यान संस्कृत की अपेक्षा देश की भाषा में दिया करें।' स्वामीजी ने उनके दोनों सुझावों को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

कलकत्ता में अपने उद्देश्य की पूर्ति कर स्वामीजी हुगली पधारे और यहां उन्होंने एक बड़े ज़मींदार वृन्दावनचन्द्र के बाग में एक कुटी बनाकर निवास किया। यहां भी हजारों की संख्या में लोग उनके उपदेश सुनने के लिए आने लगे। एक बार एक पादरी साहब स्वामीजी के पास आये और उनसे वर्णभेद पर शास्त्रार्थ करने लगे। थोड़े ही समय के बाद पादरी साहब निरुत्तर हो गये और यह बात मान ली कि मैं जो समझता था, वह सही नहीं है। स्वामीजी जो कहते हैं, वह ही सत्य है।

एक बार हुगली में रईसों ने एक सभा की और उसमें स्वामीजी से व्याख्यान दिलवाया। बहुत-से लोग सुनने के लिए आये। जब स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे, तब पण्डित ताराचरण भी आ पहुंचे। लोगों ने उनसे कहा कि आप आइये और स्वामीजी से शास्त्रार्थ कीजिये। उन्होंने सभा में आने से तो इनकार कर दिया, परन्तु मकान की छत पर चढ़कर वे दूर से ही गरजने लगे। लोगों को यह ज्ञात हो गया कि पण्डितजी केवल देखने और कहने के ही हैं, उन्हें कुछ ज्ञान नहीं है।

अगले दिन वृन्दावनचन्द्रजी ने पण्डितजी के पास जाकर उनसे स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए कहा। पण्डितजी उनकी बात मान गये और अपने गांव के कुछ लोगों—जो उनके पक्ष के थे—को लेकर स्वामीजी के पास पहुंच गये। तक पण्डितजी ने स्वामीजी से बहुत-से प्रश्न किये, जिनका उत्तर स्वामीजी ने बहुत ही सरल ढंग से दे दिया।

अन्त में पण्डितजी के मुख से एक ऐसा वाक्य निकल गया, जिसे सुनते ही वृन्दावनचन्द्र आदि लोग कहने लगे कि पण्डितजी आये तो थे मूर्तिपूजा को सिद्ध करने और यहां लगे उलटा उसी का खण्डन करने। स्वामीजी ने पण्डित ताराचरण से कहा कि मैं तो मूर्तिपूजा का खण्डन करता ही हूं, परन्तु यहां तो आप भी मूर्तिपूजा का खण्डन कर रहे हैं। यह सुनकर पण्डितजी मौन होकर वहां से जाने लगे। तभी स्वामीजी ने उनका हाथ पकड़कर कहा—'आप ऐसा बखेड़ा क्यों करते फिरते हैं?' इस पर पण्डितजी ने कहा—'मैं भी लोकभाषा का खण्डन करता हूं, सत्यशास्त्र पढ़ने-पढ़ाने का उपदेश करता हूं और पाषाण आदि मूर्तिपूजन को भी मिथ्या ही मानता हूं, परन्तु मैं क्या करूं? यदि मैं यह सत्य कह दूं, तो मेरी आजीविका चली जायेगी।'

❑❑

छपरा, अलीगढ़ और हाथरस की घटनाएं

15 दिन हुगली में निवास करके स्वामीजी भागलपुर चले गये और वहां से पटना चले गये। पटना में दो सभाएं करने के बाद स्वामीजी छपरा (बिहार) पहुंचे। यहां एक धनी ज़मींदार राय शिवगुलाम शाह बहादुर ने उनके ठहरने की व्यवस्था की।

छपरा में ब्राह्मणों ने पण्डित जगन्नाथ से स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ करने का आग्रह किया। परन्तु उसने ब्राह्मणों से कहा—'मैं इस नास्तिक का मुंह नहीं देख सकता। मेरा धर्म मुझे उसका मुख देखने की आज्ञा नहीं देता।' सभी ब्राह्मण निराश होकर लौट आये। तब स्वामीजी ने उन्हें सम्मति दी कि आप लोग उसे मेरे पास लेकर आयें। मेरे और उसके बीच में परदा डाल दें, जिससे उसका प्रण भी नहीं टूटेगा।' पण्डित ने बहुत सोच-विचार किया और अन्त में अपने शिष्यों को लेकर स्वामीजी के पास पहुंचा। उन दोनों के बीच परदा डालकर बहुत देर तक शास्त्रार्थ हुआ। संस्कृत बोलते हुए और पण्डित की अशुद्धियों को बताते हुए स्वामीजी ने उसे पूरी तरह से निरुत्तर कर दिया और सभा को यह विश्वास दिला दिया कि वह नितान्त अज्ञानी और मिथ्या घमण्डी है।

छपरा से होकर स्वामीजी आरा गये और वहां उन्होंने बाबू हरबंसराय लाल साहब के यहां निवास किया। यहां भी वे वैदिक धर्म के प्रचार में लगे रहे। आरा से चलकर स्वामीजी रेल द्वारा डुमरांव पहुंचे। डुमरांव से स्वामीजी मिर्जापुर गये और वहां पाठशाला के प्रबन्ध में लग गये। वहां से स्वामीजी इलाहाबाद गये और वहां कुछ दिन अलोपी बाग में ठहरकर कानपुर चले गये। इस समय पण्डित हेमचन्द्र चक्रवर्ती उनके साथ थे। कानपुर से स्वामीजी फ़र्रूख़ाबाद गये। फ़र्रूख़ाबाद से स्वामीजी कासगंज गये और वहां आठ-दस दिन निवास कर पाठशाला का प्रबन्ध किया और फिर छलेसर (जिला अलीगढ़) चले गये।

छलेसर पहुंचकर स्वामीजी ने छलेसर की पाठशाला में निवास किया। वहां तीन-चार दिन रुककर पाठशाला में लोगों को धर्म का उपदेश दिया और फिर अलीगढ़ चले गये। वहां उन्होंने राजा जयकिशनदास साहब का आतिथ्य ग्रहण किया। यहां सहस्रों की संख्या में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और अनेक अंग्रेज अधिकारी स्वामीजी के व्याख्यान सुनने के लिए आते थे।

एक दिन स्वामीजी अपने सेवक से पत्रों के उत्तर लिखवा रहे थे कि उन्होंने देखा सर सय्यद अहमद खां कई अंग्रेज और मुसलमान मित्रों के साथ बाहर खड़े हुए हैं। स्वामीजी ने तुरन्त ही अपने सेवक को भेजकर उन्हें सम्मानपूर्वक अन्दर बुलाया और उन्हें सुखपूर्वक बिठाकर कहा कि मेरा थोड़ा काम शेष रहा गया है, आप बैठिये, मैं काम निपटाकर आपसे निश्चिन्त होकर बातचीत करता हूं।

अपना कार्य समाप्त कर स्वामीजी उन लोगों से वार्तालाप करने लगे। सय्यद महोदय द्वारा हवन से वायु की शुद्धि और उसे मूर्ति पूजा का रूप कहने पर स्वामीजी ने उनसे पूछा—'सय्यद महाशय! आपके यहां कितने लोगों के लिए भोजन बनता है?' सय्यद महाशय ने उत्तर दिया—'लगभग पचास-साठ लोगों का।' स्वामीजी ने फिर पूछा—'कितने सैर दाल पकती होगी?' सय्यद महाशय ने कहा—'यही कोई छह-सात सेर।' स्वामीजी ने पुनः प्रश्न किया—'इतनी दाल में कितनी हींग का छौंक दिया जाता होगा?' सय्यद महाशय ने कहा—'कम-से-कम एक माशा तो लगती ही होगी।' स्वामीजी ने पूछा—'क्या इतनी-सी हींग से सारी दाल सुगन्धित हो जाती है?' सय्यद महाशय ने कहा—'जी हां, उसकी सुगन्ध पूरी दाल में आ जाती है।' इस पर स्वामीजी ने कहा—'जिस प्रकार थोड़ी-सी हींग दाल को सुगन्धित बना देती है, उसी प्रकार थोड़ा-सा किया हुआ अग्नि-होत्र भी वायु को शुद्ध कर देता है। हम लोग प्रत्येक समय अपनी सांसों, मल-मूत्र आदि द्वारा वायु को दूषित करते रहते हैं। जिस प्रकार घर की सफाई अनिवार्य है, उसी प्रकार वायु की सफाई भी अनिवार्य है, नहीं तो इसका प्रभाव मनुष्य पर ही पड़ेगा। इसलिए हवन या अग्नि-होत्र करना मनुष्य का नैतिक और सामाजिक कर्तव्य है, मूर्ति पूजा नहीं।'

स्वामीजी का उत्तर सुनकर सर सय्यद महोदय बहुत प्रसन्न हुए। उनके साथ आये हुए अंग्रेज सज्जनों ने भी अग्नि-होत्र द्वारा वायु शुद्धि की इस क्रिया

को विज्ञान-सम्मत बताया। अब तो सय्यद महोदय अकसर स्वामीजी के पास आने लगे। स्वामीजी की बातों का उन पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अपने धर्मग्रन्थों में बिहिश्त आदि मान्यताओं को अस्वीकार कर इस्लाम धर्म की सुधारवादी दृष्टि से व्याख्या करने का प्रयत्न किया।

अलीगढ़ से चलकर स्वामीजी छलेसर के निवासी ठाकुर मुकुन्दसिंहजी के साथ हाथरस गये। स्वामीजी के पहुंचने से पहले राजा जयकिशनदासजी ने वहां पहुंचकर उनके ठहरने की सारी व्यवस्था कर दी। वहां भी स्वामीजी का लोगों से धर्मसम्बन्धी वार्तालाप होता रहा। 10-12 पण्डित प्रतिदिन स्वामीजी के पास आकर अपनी शंकाओं का निवारण करते थे। स्वामीजी ने यहां मृतक-श्राद्ध-खण्डन पर एक व्याख्यान दिया और इसे मिथ्या साबित किया। 5-6 दिन हाथरस में रहकर स्वामीजी अलीगढ़ के राजा टीकमसिंह की भेजी हुई फिटन पर ठाकुर भोपालसिंह वर्तमान रिसालदार तथा कुछ अन्य साथियों सहित मुरसान पधारे और कुछ दिन वहां रहकर हाथरस होते हुए मथुरा पहुंचे।

❑❑

मथुरा-वृन्दावन में सिंहनाद

स्वामीजी ने अपने सहाध्यायी पण्डित गंगादत्तजी को एक चिट्ठी और रुपये भेजे कि आप पन्नीलाल साहूकार की पाठशाला में पढ़ाने के लिए आयें। परन्तु चौबों की बिरादरी द्वारा डाराये जाने पर उन्होंने स्वामीजी को उत्तर लिखा—'हम वहां आना तो चाहते हैं, परन्तु मथुरा मूर्तियों का घर है। यहां सुवर्ण की मूर्तियों के बड़े-बड़े स्तम्भ खड़े हैं। रंगाचार्य सारे देश में अपनी विजय का डंका बजाकर यह जयघोष करता चक्कर लगा रहा है कि 'मूर्ति सत्य है।' जब तक आप रंगाचार्य को शास्त्रार्थ में हरा नहीं देते, तब तक मैं आपके कार्यों में सहयोग नहीं दे सकता।'

उत्तर पढ़कर स्वामीजी गुरु रंगाचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित करने के लिए वृन्दावन जाने के लिए तैयार हो गये। राजा जयकिशनदास ने देवीप्रसाद डिप्टी कलेक्टर को पत्र लिखकर स्वामीजी के मथुरा और वृन्दावन में ठहरने की व्यवस्था करने को कहा। मथुरा में राजा उदितनारायण ने स्वामीजी का आदर-सत्कार किया और उन्हें अपने यहां ठहराया। वहां से स्वामीजी वृन्दावन गये। जब स्वामीजी वृन्दावन जाने लगे, तो राजा ने उनकी रक्षा के लिए चार आदमी साथ भेज दिये। उन्हें डर था कि कहीं रंगाचार्य के अनुयायी कोई उपद्रव न करें, जिससे व्याख्यान में विघ्न पड़े। वृन्दावन पहुंचकर स्वामीजी ने यह विज्ञापन दिया कि 'होली के त्योहार के बाद स्वामीजी 'ब्रह्मोत्सव' का मेला आरम्भ होने पर मूर्तिखण्डन आदि विषयों पर व्याख्यान देंगे। लोग आकर सुनें और लाभ उठायें।'

होली का त्योहार होने के कारण स्वामीजी ने कोई व्याख्यान नहीं दिया, लेकिन उनके डेरे पर आने वाले लोगों को उन्होंने धर्मोपदेश अवश्य दिया। फिर स्वामीजी ने शास्त्रार्थ के लिए एक लिखित चुनौती रंगाचार्यजी के पास भिजवाई, जिसके उत्तर में रंगाचार्यजी ने कहा कि शास्त्रार्थ मेले के बाद होगा। इस बीच स्वामीजी मूर्तिखण्डन, तिलक, छाप, वैष्णवमत आदि विषयों पर

बड़े उत्साह से व्याख्यान देने लगे। जैसे-जैसे शास्त्रार्थ का दिन समीप आता जाता था, रंगाचार्यजी की चिन्ता बढ़ती जाती थी। जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि दयानन्दजी उन्हें बिना शास्त्रार्थ के नहीं छोड़ेंगे, तो उन्होंने बीमारी का बहाना बनाया। जैसे-जैसे शास्त्रार्थ का दिन समीप आता था, वैसे-वैसे उनकी बीमारी बढ़ती जाती थी। मेला समाप्त होने के बाद बार-बार कहने पर भी रंगाचार्यजी शास्त्रार्थ के लिए तैयार नहीं हुए। जब स्वामीजी ने देखा कि रंगाचार्यजी शास्त्रार्थ के लिए तैयार नहीं हैं, तो वे मथुरा चले गये और वहां पुरुषोत्तमदासजी के बाग में ठहरे। वहां उन्होंने समस्त नवीन मतमतान्तरों का खण्डन आरम्भ किया।

एक दिन अस्सी वर्षीय पण्डे मदनदत्तजी, अपने शरीर पर छाप और तिलक लगाकर स्वामीजी के पास शास्त्रार्थ करने के लिए गये। वह चालीस वर्ष से केवल दुग्धाहारी थे और वैष्णव मत के पक्के अनुयायी तथा नगर के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वह अपने पोते गरुड़ध्वज को भी साथ लेकर गया। उनको देखकर स्वामीजी ने उनको आसन दिया और उनका कुशल-क्षेम पूछा। फिर स्वामीजी ने उनके पोते से व्याकरण के कुछ प्रश्न किये। जब पोता उत्तर न दे सका, तो स्वामीजी ने पण्डे मदनदत्तजी को डांटते हुए कहा कि 'तुमने अपने लड़के को बिगाड़ दिया है। यदि इसी प्रकार रहा, तो यह महामूर्ख बनेगा।' फिर स्वामीजी ने उसे अष्टाध्यायी पढ़ने की शिक्षा दी। स्वामीजी की बातों से मदनदत्तजी पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे घर से गये तो थे मूर्तिपूजा को सिद्ध करने के लिए, परन्तु सैकड़ों मनुष्यों की उपस्थिति में स्वामीजी के सामने मूर्तिपूजा और समस्त वेदविरुद्ध सम्प्रदायों का खण्डन आरम्भ कर दिया। यह सब देखकर लोग चकित रह गये और कहने लगे कि स्वामीजी के पास जरूर कोई ऐसा मन्त्र है, जिसके प्रभाव से बड़े-से-बड़े विरोधी भी अनायास ही उनके अनुयायी हो जाते हैं।

दूसरे दिन स्वामीजी ने एक ब्रह्मचारी को उपदेश देकर उससे शालिग्राम की मूर्तियों का पलना यमुना में डलवा दिया और भागवत पढ़ना छुड़वाकर सत्य ग्रन्थों को पढ़ने की आज्ञा दी।

मथुरा से स्वामीजी मुरसान चले गये।

❑❑

इलाहाबाद में स्वामीजी

मुरसान से स्वामीजी इलाहाबाद गये और वहां नगर के बाहर अलोपी बाग में ठहरे। वहां पहुंचकर स्वामीजी ने स्थानीय पोस्ट ऑफिस द्वारा यह नोटिस दिया कि जो कोई किसी धार्मिक विषय पर शास्त्रार्थ करना चाहे, वह मेरे पास आ सकता है।

यहां पर किसी कॉजेल के विद्यार्थी द्वारा 'म्लेच्छ' का अर्थ पूछे जाने पर स्वामीजी ने उत्तर दिया—'जिनका उच्चारण शुद्ध नहीं, वे म्लेच्छ हैं।' तत्पश्चात् स्वामीजी ने अन्य विद्यार्थियों के प्रश्नों का उत्तर दिया। फिर स्वामीजी ने राजा जयकिशनदास साहब सी०एस०आई० के सुपुत्र पं० ज्वालाप्रसादजी को सभा में उपस्थित लोगों के सम्मुख आर्यों की उपासना-पुस्तक पढ़ने के लिए कहा। बाद में स्वामीजी ने मौलवी निजामुद्दीन से पूछा कि मुसलमान खुदा को किस प्रकार मानते हैं। उस मौलवी ने किसी इस्लामी पुस्तक का उद्धरण देने के स्थान पर सर डब्ल्यू० हैमिल्टन की मैटाफिजिक्स खण्ड 1 के आरम्भ से खुदा के चार गुणों का वर्णन किया। स्वामीजी ने उसको मुसलमानों का मन्तव्य जाना।

मौलवीजी के नमाज पर चले जाने पर स्वामीजी ने वहां उपस्थित लोगों से कहा—'मुसलमानों ने औरों की छोटी-छोटी मूर्तियां तो तोड़ डाली हैं, परन्तु अपनी बड़ी मूर्ति की पूजा—जो मक्के के मन्दिर में रखी हुई है—को नहीं छोड़ा है। मुसलमान झुण्ड बनाकर प्रतिवर्ष हज के लिए जाते हैं। ये लोग हज को मुक्ति का साधन मानते हैं।'

मौलवी साहब के नमाज से लौटने पर उन्होंने तथा कुछ अंग्रेजी, फारसी जानने वाले हिन्दुओं ने आवागमन के विषय पर चर्चा आरम्भ की। उन्होंने कहा कि आवागमन पर विश्वास करना प्राचीन हिन्दुओं की एक भूल है। इस पर स्वामीजी ने आवागमन को सिद्ध करने के लिए प्रबल युक्तियां दीं। स्वामीजी ने कहा—'पशुओं की बुद्धि पाशविक होती है। यह एक शक्ति है,

जो ईश्वर ने पशुओं को संसार में काम करने के लिए प्रदान की है।' इसके साथ ही स्वामीजी ने आवागमन के सिद्धान्त पर एक लम्बा व्याख्यान दिया। तत्पश्चात् सभा समाप्त हो गयी।

अगले दिन स्वामीजी ने एक बंगाली सज्जन के घर में व्याख्यान दिया। इस व्याख्यान में स्वामीजी ने धर्म के 10 लक्षणों का वर्णन किया, जो किसी मजहब विशेष के नहीं थे।

स्वामीजी के व्याख्यानों का म्यूर कॉलेज के विद्यार्थियों पर बहुत प्रभाव पड़ा।

इलाहाबाद में स्वामीजी ने सितम्बर मास के अन्त तक रहकर राजा साहब को सत्यार्थ प्रकाश लिखवाया और फिर जबलपुर चले गये। वहां वह जमनादास के बाग में ठहरे। जबलपुर से चलकर स्वामीजी नासिक पहुंचे और एक मुन्सिफ ब्राह्मण के यहां ठहरे। यहां भी स्वामीजी ने अपने व्याख्यान जारी रखे।

बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना

स्वामीजी इलाहाबाद, जबलपुर, नासिक होते हुए सन् 1874 में बम्बई पहुंचे। बम्बई में उन्होंने बालुकेश्वर में निवास किया। दयानन्दजी ने चार भाषाओं में एक विज्ञापन प्रकाशित किया, जिसमें लिखा था कि जिनकी धर्माधर्म सम्बन्धी विचार करने की इच्छा हो, उनका स्वागत है। शिक्षित समाज तो पहले से ही स्वामी दयानन्दजी से परिचित था। परन्तु स्वामीजी के बम्बई पहुंचने के एक मास पहले सेवकलाल कृष्णदास ने 'काशी शास्त्रार्थ' के सार का गुजराती में अनुवाद करके 'आर्यमित्र' नामक गुजराती पत्र में प्रकाशित करा दिया था, जिससे बम्बई का आम नागरिक भी उनके नाम एवं कार्यों से परिचित हो चुका था। बम्बई में स्वामीजी एक दिन व्याख्यान देते थे और दूसरे दिन लोगों की शंकाओं का निवारण करते थे।

बम्बई पहुंचकर जब स्वामीजी ने लोगों के मुंह से वल्लभाचार्य मत के पण्डितों के पाशविक कर्मों का विस्तारपूर्वक वृत्तान्त सुना, तो उनके मस्तिष्क में उस मत के खण्डन और उसकी पोल खोलने की धुन सवार हो गयी। उन्होंने लगातार भाषण और उपदेश आरम्भ किये, जिससे पौराणिक स्वामीजी से रुष्ट होकर उन्हें हानि पहुंचाने की सोचने लगे।

एक दिन गोसाईंजी ने चार-पांच बलिष्ठ व्यक्तियों को स्वामीजी को मारने के लिए भेजा। जब स्वामीजी समुद्र तट पर भ्रमण करके अपने निवास को लौट रहे थे, उन्हें लगा कि कोई उनका पीछा कर रहा है। उन्होंने घूमकर देखा, तो वहां चार-पांच व्यक्ति हाथों में मोटे-मोटे डण्डे लिये उनके पीछे आ रहे थे। उन्हें देखकर स्वामीजी बिल्कुल नहीं घबराये, अपितु उन्होंने वहीं खड़े होकर अपना सोटा धरती पर पटककर उच्च स्वर में कहा—'क्या तुम मेरा वध करना चाहते हो?' स्वामीजी के क्रोध भरे उस स्वर को सुनकर वे गुंडे वहां से भाग खड़े हुए।

इस घटना के बाद भी गोसाईंजी चुप नहीं बैठे। वे अन्य गुंडों के पास

गये और उनसे बोले—'आजकल यहां एक हिन्दू फकीर आया है। वह हिन्दू-मुसलमान आदि हर मत की बुराई करता है। मैं चाहता हूं कि तुम लोग उस नास्तिक और काफिर को उचित दण्ड दो। इसके बदले में मैं तुम्हें मुंह-मांगा पुरस्कार दूंगा।' उन गुंडों द्वारा उस फकीर का नाम व पता पूछे जाने पर गोसाईंजी ने दयानन्दजी का नाम व पता बता दिया। फिर वे गुंडे आधी रात के समय स्वामीजी के डेरे पर गये। उस समय स्वामीजी चारपाई पर सो रहे थे और सेवकलाल पास ही फर्श पर लेटा था। जब सेवकलाल ने मुंह ढांपे दो व्यक्तियों को कमरे में घुसा हुआ देखा, तो वह उठ खड़ा हुआ, लेकिन डर के मारे उसकी आवाज नहीं निकली। अचानक ही स्वामीजी की नींद खुली और वे सोटा लेकर खड़े हो गये। उन्होंने उच्च स्वर में उन गुंडों से पूछा—'कौन हो तुम लोग?' स्वामीजी के अचानक जाग जाने और कड़ककर बोलने से वे गुंडे सकपका गये और वहां से नौ दो ग्यारह हो गये।

जब गोसाईंजी ने देखा कि बाहरी व्यक्ति द्वारा दयानन्दजी को नहीं मारा जा सकता, तो उन्होंने स्वामीजी के सेवक बलदेवसिंह कान्यकुब्ज ब्राह्मण को अपना शिकार बनाया। गोसाईंजी ने उससे घनिष्ठता स्थापित की। बलदेव भी छिप-छिपकर गोसाईंजी के मन्दिर जाने लगा। एक दिन गोसाईंजी ने उससे कहा कि यदि तुम स्वामीजी को मार दो, तो मैं तुम्हें एक हजार रुपये दूंगा। इसके साथ ही गोसाईंजी ने उसी समय उसे पांच रुपये नकद और 5 सेर मिठाई प्रसाद के रूप में दी और हजार रुपये देने की प्रतिज्ञा करके एक रुक्का लिख दिया।

बलदेवसिंह एक बार तो रुपयों के लालच में आया गया, परन्तु तभी उसके मन में ब्रह्म-हत्या का डर समा गया। वह स्वामीजी को मारने न मारने की उधेड़-बुन में स्वामीजी के डेरे पर गया। जब वह पहुंचा, तो स्वामीजी ने उससे पूछा—'क्या तुम गोकुलियों के मन्दिर में गये थे?' बलदेवसिंह बोला—'हां, महाराज! गया था।' तब स्वामीजी ने कहा—'क्या ठहरा?' बलदेवसिंह ने सब कुछ सच-सच बताते हुए स्वामीजी से कहा—'पांच रुपया नकद, पांच सेर मिठाई और यह रुक्का लिखकर दिया है कि मार दो, तो हजार रुपये ले लो।' स्वामीजी ने कहा—'बलदेव! मुझे कई बार मारने की कोशिश की गयी है, परन्तु मैं नहीं मरा। जब तक परमात्मा की इच्छा नहीं होगी, मैं नहीं मरूंगा।' बलदेवसिंह स्वामीजी के चरणों में गिरकर कहने लगा—'महाराज!

मेरे कुल का काम विष देना नहीं है और फिर ऐसे महान् व्यक्ति को विष देना, जिससे समस्त जगत् को लाभ पहुंच रहा है, कदापि नहीं।' स्वामीजी ने वह मिठाई फिंकवा दी और रुक्का पकड़कर फाड़ दिया, साथ ही बलदेव को यह भी कहा कि सावधान! भविष्य में उनके यहां कभी मत जाना।

जब गोसाईंजी ने देखा कि दयानन्दजी के आगे हमारी नहीं चलने वाली, तो वह मद्रास भाग ये। तत्पश्चात् स्वामीजी ने 'वल्लभाचार्य-मत-खण्डन' पुस्तक लिखकर प्रकाशित की। फिर स्वामीजी का पुस्तकालय में बम्बई के पण्डितों से शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ के लिए एक बड़ा सिंहासन बनाया गया और उस पर वेद की पुस्तक प्रमाण के लिए रखी गई। ब्राह्मणों ने कहा कि हम ऊपर बैठेंगे। स्वामीजी ने कहा कि हम संन्यासी हैं, अत: हम ऊपर बैठेंगे। यदि तुम्हारे द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर हम नहीं दे सके, तो तुम ऊपर बैठ जाना, हम नीचे उतर आयेंगे। यह शास्त्रार्थ व्याकरण और प्रतिमा के विषय पर हुआ, जिसमें कोई भी पण्डित मूर्तिपूजा को वेद से सिद्ध न कर सका। इसके बाद लीलाधर सेठ के बाग में स्वामीजी का बम्बई के पण्डितों के शिरोमणि जयकिशन व्यास से जीवब्रह्म की एकता पर शास्त्रार्थ हुआ। इसी अवसर पर स्वामीजी ने 'वेदान्तध्वान्तनिवारण' पुस्तक लिखकर छपवायी।

स्वामीजी के बम्बई निवास के दौरान कई धर्म जिज्ञासुओं ने यह विचार किया कि स्वामीजी के चले जाने के बाद इस उत्तम धर्मकार्य को चलाना कठिन होगा, इसलिए एक 'आर्यसमाज' की स्थापना होनी ही चाहिए। परन्तु स्वामीजी को बम्बई बुलाने वाले कुछ लोगों ने इसका खण्डन किया; क्योंकि उन लोगों का यह हेतु था कि स्वामीजी द्वारा किसी विशेष मत का खण्डन करवाकर, उस मत के बहुत-से अनुयायियों को अपनी ओर करें। स्वामीजी के जाने के पश्चात् उन लोगों को अपना शिष्य बनाकर उन्हें कथाश्रवण करने के लिए आने का उपदेश किया करें। इसके अतिरिक्त जो लोग वेद को नहीं मानते थे और स्वामीजी के सहायक थे, वे लोग भी इस विचार को जानकर प्रसन्न नहीं हुए; क्योंकि उन लोगों का भी यह निश्चय था कि स्वामीजी के चाहने वालों में से अधिकतर लोग उनकी समाज में सम्मिलित हों।

जब स्वामीजी को इन दोगले लोगों के स्वार्थों का ज्ञान हुआ, तो 'आर्यसमाज' की स्थापना करने की उनकी इच्छा और भी प्रबल हो गयी, परन्तु लोगों द्वारा विघ्न डाले जाने पर आर्यसमाज की स्थापना का कार्य

सम्पन्न न हो सका।

इसी बीच अहमदाबाद के जज का बैरिस्टर पुत्र आकर स्वामीजी को अहमदाबाद ले गया। अहमदाबाद का एक भाटिया रईस स्वामीजी को स्टेशन लेने आया। उसने 2-3 लाख रुपये खर्च करके एक मन्दिर बनवाया था। रास्ते में उसने स्वामीजी के सामने अपने द्वारा बनवाये गये मन्दिर की प्रशंसा आरम्भ की। स्वामीजी ने उसे कहा—'मुझे खेद है कि तुमने इतना रुपया मन्दिर बनवाने में खर्च किया। यदि तुम मन्दिर की जगह कोई पाठशाला बनवाते, तो वेद पढ़े हुए ब्राह्मण संसार को लाभ पहुंचाते।' उसने कहा कि मैं वेदानुकूल प्रतिमापूजन को सिद्ध करा दूंगा। फिर उसने राजा मल्हारराव से कहकर पण्डितों का स्वामीजी से स्वामीजी के निवास स्थान पर ही शास्त्रार्थ करवाया। दो-ढाई सौ पण्डित आये। 5-6 घण्टे तक शास्त्रार्थ हुआ। जब वे लोग वेदविहित प्रतिमापूजन को सिद्ध नहीं कर सके, तो गालियां देने लगे। तब जज और भोलानाथ भाई ने कहा कि यह सिद्ध हो चुका है कि प्रतिमापूजन की बात वास्तव में वेद से तो सिद्ध नहीं होती। अब यह आपके ऊपर है कि आप इसे मानते हैं या नहीं।

तत्पश्चात् स्वामीजी अहमदाबाद से राजकोट गये। वहां स्वामीजी एक धर्मशाला अथवा सरकारी सराय के बड़े बंगले पर उतरे। वहां उन्होंने 10-12 व्याख्यान दिये। राजकोट से स्वामीजी पुनः अहमदाबाद आये और स्वामी नारायण मत का खण्डन किया। उन्हीं दिनों स्वामीजी ने 'स्वामी-नारायण-मत-खण्डन' नामक पुस्तक भी लिखी। तत्पश्चात् स्वामीजी पुनः बम्बई गये। बम्बई पहुंचकर स्वामीजी पर एक बार फिर से 'आर्यसमाज' की स्थापना की धुन सवार हो गयी। अब तो स्वामीजी के समर्थकों ने भी यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि चाहे कुछ भी हो जाये, हम तो आर्यसमाज स्थापित करके ही दम लेंगे। अन्त में, उन लोगों ने आर्यसमाज के नियम और उपनियम बनाने का कार्य श्री पानाचन्द्र आनन्द पारिख को सौंप दिया। स्वामीजी द्वारा नियमों को स्वीकार किये जाने के उपरान्त आर्यसमाज की स्थापना करने वाले लोगों ने मोहल्ला गिरगांव में डाक्टर मानकजी के बाग में, श्री गिरधरलाल दयालदास कोठारीजी की प्रधानता में एक सार्वजनिक सभा की और उसमें आगे दिये हुए नियम सुनाये, जो सर्वसम्मति से प्रमाणित हुए और उसी दिन से आर्यसमाज की स्थापना हो गयी।

बम्बई की आर्यसमाज के नियम

1. इस समाज में मुख्य स्वत: प्रमाण, वेदों को ही माना जायेगा।

2. इस समाज में प्रति देश के मध्य में एक प्रधान समाज होगा और दूसरी शाखा प्रशाखाएं होंगी।

3. प्रधान समाज के अनुसार ही अन्य सब समाजों की व्यवस्था होगी।

4. प्रत्येक समाज में एक प्रधान पुरुष और दूसरा मन्त्री तथा अन्य पुरुष और स्त्री, यह सब सभासद होंगे।

5. प्रधान पुरुष इस समाज की यथावत् व्यवस्था का पालन करेगा और मन्त्री सबके पत्र का उत्तर तथा सबके नाम व्यवस्था लेख करेगा।

6. इस समाज में सत्पुरुष सत्-नीति सत्-आचरणी मनुष्यों के हितकारक समाजस्थ किये जायेंगे।

7. प्रत्येक आठवें दिन प्रधान, मन्त्री और सभासद समाजस्थान में एकत्रित होंगे और बिना किसी पक्षपात के परस्पर प्रीति से प्रश्नोत्तर करेंगे।

8. प्रत्येक सभासद न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त करे, उसमें से आर्यसमाज, आर्यविद्यालय और आर्यप्रकाश पत्र के प्रचार और उन्नति के लिए आर्यसमाज-धनकोष में एक प्रतिशत दे।

9. समाज में वेदोक्त प्रकार से प्रत्येक अद्वितीय परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना की जायेगी, अर्थात् निराकार परमेश्वर की ही भक्ति होगी, उससे अतिरिक्त किसी की नहीं होगी।

10. इस समाज में निषेक आदि अन्त्येष्टि पर्यन्त संस्कार वेदोक्त किये जायेंगे।

11. आर्य विद्यालय में वेदादि सनातन आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन कराया जायेगा और वेदोक्त रीति से ही सत्यशिक्षा सब पुरुषों और स्त्रियों को प्राप्त होगी।

12. इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जायेगा—एक परमार्थ और दूसरी लोकव्यवहार। इन दोनों का शोधन और शुद्धता की उन्नति तथा सब संसार के हित की उन्नति की जायेगी।

13. इस समाज में न्याय, जो पक्षपातरहित, अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यथावत् परीक्षित सत्यधर्म वेदोक्त ही माना जायेगा। इससे विपरीत को यथाशक्ति नहीं माना जायेगा।

14. इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् लोग सर्वत्र सत्योपदेश करने के लिए समयानुकूल भेजे जायेंगे।

15. स्त्री और पुरुष के विद्याभ्यास के लिए अलग-अलग आर्य विद्यालय प्रत्येक स्थान में यथाशक्ति बनाये जायेंगे। स्त्रियों के लिए पाठशालाएं, अध्यापन और सेवा प्रबन्ध स्त्री द्वारा तथा पुरुष पाठशाला का पुरुषों द्वारा किया जायेगा।

16. इन पाठशालाओं की व्यवस्था प्रधान आर्यसमाज के अनुकूल पालन की जायेगी।

17. आर्यसमाज, आर्य विद्यालय, आर्यप्रकाश और आर्यसमाजार्थ धनकोष—इन चारों की रक्षा और उन्नति प्रधान आदि सभासद तन, मन और धन से यथावत् सदा करें।

18. जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्यसमाजस्थ मिले, तब तक अन्य किसी की नौकरी न करे और न किसी अन्य को नौकर रखे। वे दोनों परस्पर स्वामिसेवक भाव से यथावत् बरतें।

19. जब विवाह, पुत्रजन्म, महालाभ या मरण या अन्य कोई समय दान और धनव्यय करने का हो, तब आर्यसमाज के निमित्त धन आदि का दान किया करें।

20. यदि इन नियमों से कोई नियम नया लिखा जायेगा या कोई निकाला जायेगा अथवा न्यूनाधिक किया जायेगा, वह सब श्रेष्ठ सभासदों की विचाररीति से सब श्रेष्ठ सभासदों को विदित करके ही यथायोग्य करना होगा।

नियमों को स्वीकृति मिलने के बाद अधिकारी की नियुक्ति की गयी। तत्पश्चात् प्रति शनिवार सायंकाल को आर्यसमाज के अधिवेशन होने लगे। चूंकि शनिवार का दिन सामाजिक पुरुषों के अनुकूल नहीं था, अतः कुछ महीने बाद रविवार का दिन निश्चित किया गया, जो अब तक है। आर्यसमाज की स्थापना के बाद स्वामीजी फिर से अहमदाबाद चले गये।

स्वामीजी के बम्बई से चले जाने के बाद पण्डितों ने झूठमूठ का कोलाहल मचा दिया कि हम शास्त्रार्थ करना चाहते हैं, परन्तु खेद है कि स्वामीजी चले गये। कई लोगों ने अपनी प्रसिद्धि की इच्छा से विज्ञापनों द्वारा भी कोलाहल मचाया कि यदि स्वामीजी यहां होते, तो हम अवश्य शास्त्रार्थ करते। यह सब कोलाहाल सुनकर आर्यसमाज के मन्त्री ने तार देकर स्वामीजी को अहमदाबाद से बुलाया। स्वामीजी बुम्बई पहुंच गये। उनके आते ही पण्डितों के होश उड़

गये और वे पीठ दिखाने लगे। अन्त में आर्यसमाज ने रामानुजमतस्थ पण्डित कमलनयन आचार्य को वकील का नोटिस दिया। नोटिस को देखकर वह सभा में आये और फिर शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में स्वामीजी ने पण्डित कमलनयन को पराजित कर दिया।

बम्बई से स्वामीजी पूना गये और वहां भी मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ किया, परन्तु वहां भी कोई भी वेद से मूर्तिपूजा सिद्ध न कर सका। लोगों ने 'प्रतिमाः हसन्ति रुदन्ति' का प्रमाण भी दिया था, परन्तु स्वामीजी ने उसका स्पष्ट अर्थ कर दिया कि जिससे वस्तु 'प्रमाण' की जाये, वह 'प्रतिमा' है। फिर सारे वाक्य का अर्थ स्पष्ट कर दिया कि इसमें मूर्तिपूजा का कहीं वर्णन नहीं। पूना में स्वामीजी का विष्णु शास्त्रीजी से नियोग और पुनर्विवाह पर शास्त्रार्थ हुआ। वह पुनर्विवाह को मानते थे। स्वामीजी ने कहा कि आपत्काल, अर्थात् मृत्यु आदि विपत्ति पड़ने पर, ग्यारह तक करने की वेद में आज्ञा है। इस शास्त्रार्थ का कुछ निर्णय नहीं हुआ था।

स्वामीजी ने पूना में दो महीने तक निवास किया और 15 व्याख्यान दिये। फिर पूना में आर्यसमाज की स्थापना की।

❑❑

उत्तरी भारत में स्वामीजी

सन् 1876 में स्वामीजी पांचवीं बार फ़र्रूख़ाबाद गये और वहां ला० जगन्नाथदास के विश्रान्त घाट पर डेरा डाला। फ़र्रूख़ाबाद से स्वामीजी बनारस गये और वहां उत्तमगिरि के बगीचे में निवास किया। यहां स्वामीजी ने वेदभाष्य के दोनों विज्ञापन छपवाने का प्रबन्ध किया तथा भूमिका छपवाने का प्रबन्ध मिस्टर लाजरस साहब ने किया। बनारस से चलकर स्वामीजी जौनपुर पहुंचे और वहां एक धर्मशाला में निवास किया। यहां स्वामीजी तीन दिन ठहरे और इन तीन दिनों में भी अपने पास आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उपदेश देते रहे। तत्पश्चात् स्वामीजी अयोध्या गये और वहां सरयू बाग में, चौधरी गुरुचरणलाल के मन्दिर में ठहरे। यहां उन्होंने वेदभाष्य भूमिका का लेखन आरम्भ किया। अयोध्या के बाद स्वामीजी लखनऊ गये। वहां उन्होंने हुसैनगंज में स्थित सरदार विक्रमसिंह साहब आहलूवालिया की कोठी में निवास किया।

लखनऊ में स्वामीजी ने निश्चय किया कि अंग्रेजी भाषा पढ़कर विलायत में सत्योपदेश के लिए जाना चाहिए। इसलिए उन्होंने एक बंगाली बाबू से अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया, परन्तु यहां भी 'भूमिका' लेखन कार्य में इतने संलग्न रहे कि अंग्रेजी की ओर ध्यान नहीं दे सके। लखनऊ में स्वामीजी ने 'ईश्वर एक है' विषय पर व्याख्यान दिया। लखनऊ से स्वामीजी शाहजहांपुर और बांस बरेली होते हुए मुरादाबाद पहुंचे। मुरादाबाद में स्वामीजी राजा जयकिशनदास के बंगले पर ठहरे। एक दिन यहां पर पादरी पार्कर स्वामीजी से सृष्टि की उत्पत्ति पर बातचीत कर रहे थे। पादरी ने कहा—'सृष्टि को बने केवल पांच सहस्त्र वर्ष हुए हैं।' स्वामीजी ने कहा—'नहीं, लाखों और करोड़ों वर्ष हुए हैं।' जब पादरी नहीं माने, तो स्वामीजी ने पास के कमरे से एक बिल्लौरी स्फटिक उठा लिया और बंगले के उस कमरे में चले गये, जहां उन दिनों ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन का अधिवेशन हो रहा था। वहां जाकर स्वामीजी ने सभा के सदस्यों को पत्थर दिखाकर पूछा—'चूंकि आप लोगों को

भूगर्भ-विद्या का ज्ञान है, इसलिए कृपया आप बताइये कि इस पत्थर को वर्तमान अवस्था में आने में कितने वर्ष लगे होंगे?' सदस्यों में से एक व्यक्ति ने पत्थर को देखकर कहा—'स्वामीजी! लाखों वर्ष लगे होंगे।' तब स्वामीजी ने पादरी से कहा—'अब आप ही बताइये कि यदि आपके कथनानुसार सृष्टि को बने पांच सहस्र वर्ष ही हुए हैं, तो लाखों वर्षों में यह पत्थर कैसे बना।' स्वामीजी की बात सुनकर पादरी महोदय का सिर शर्म से झुक गया।

मुरादाबाद में आर्यसमाज की स्थापना करने के बाद स्वामीजी दिल्ली गये। दिल्ली में स्वामीजी ने शेरमल के अनारबाग में निवास किया। जब स्वामीजी दिल्ली पहुंचे, तो उस समय महारानी विक्टोरिया के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में एक महोत्सव मनाया जा रहा था और साथ ही दिल्ली में एक बड़ा दरबार भी होने वाला था, जिसमें सम्मिलित होने के लिए भारत के सभी राजा-महाराजा और प्रतिष्ठित व्यक्ति राज्य की ओर से आमन्त्रित थे। ऐसे समय में भी स्वामीजी ने अपने धर्म-प्रचार का कार्य चालू रखा। प्रतिदिन हजारों की संख्या में लोग स्वामीजी का व्याख्यान सुनने के लिए आते थे।

एक दिन मथुरा से एक कृष्ण भक्त स्वामीजी के पास आया और उसने 'जय राधाकृष्ण' करके स्वामीजी को मथुरा से लायी हुई मिट्टी देनी चाहिए। मिट्टी को देखकर स्वामीजी ने कहा—'यह कैसी मिट्टी है?' उसने कहा—'स्वामीजी! बालकपन में कृष्णजी ने यह मिट्टी खायी थी, इसलिए मैं यह मिट्टी प्रसाद रूप में आपके लिए लाया हूं।' स्वामीजी ने कहा—'भाई! बच्चे तो मिट्टी खाया ही करते हैं, इसलिए कृष्णजी ने भी खायी होगी। बड़े होकर कौन मिट्टी खाता है।'

दिल्ली में स्वामीजी ने दो प्रयत्न किये। उनका पहला प्रयत्न था, दिल्ली में जितने भी राजा एकत्रित हुए हैं, वे सब एक दिन इकट्ठे होकर उनका व्याख्यान सुनें। स्वामीजी ने इसके लिए बहुत प्रयत्न किया, परन्तु राजाओं को अवकाश न होने के कारण यह प्रत्यन सफल न हो सका। स्वामीजी का दूसरा प्रयत्न था कि भारतवर्ष के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपदेशक तथा किसी-न-किसी ढंग से धार्मिक कार्यों में संलग्न सभी व्यक्तियों को एक स्थान पर एकत्रित किया जाये। इसके अन्तर्गत जो व्यक्ति सम्मिलित हुए, वे थे—मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, बाबू नवीनचन्द्र राय, बाबू केशवचन्द्र सेन, मुंशी इन्द्रमणि महोदय, बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, मान्य सैयद अहमद खां तथा स्वामीजी स्वयं।

स्वामीजी ने इन लोगों को कहा कि यदि हम लोग एकमत हो जायें और एक ही रीति से देश का सुधार करें, तो देश का सुधार शीघ्र हो जायेगा। इस विषय पर बहुत देर तक बातचीत होती रही, परन्तु मूल विश्वास में उन लोगों में मतभेद था, इसलिए जैसा स्वामीजी चाहते थे, वैसा नहीं हो सका, अर्थात् एकता न हो सकी।

दिल्ली से चलकर स्वामीजी सन् 1877 में मेरठ गये और वहां सूरजकुण्ड पर बनी डिप्टी महताबसिंह की कोठी में ठहरे। वहां पर गोरे लोगों द्वारा तंग किये जाने पर स्वामीजी पास ही लेखराज के बाग में चले गये। मेरठ से स्वामीजी सहारनपुर गये। उस समय स्वामीजी के साथ पण्डित भीमसेन, बिहारी बाबू, सामन्ता, भूदेव तथा बलदेव ब्रह्मचारी थे। वे कन्हैयालाल के शिवालय में ठहरे। यहां उनके व्याख्यान चित्रगुप्त मन्दिर में होते थे। एक दिन स्वामीजी ने 'आर्य कौन हैं? और कहां से आये हैं?' विषय पर व्याख्यान दिया, जिसे सुनने के लिए इतने लोग आये कि तिल धरने का भी स्थान नहीं था। दूसरे दिन 'सत्य' विषय पर व्याख्यान हुआ। तीसरा व्याख्यान 'सृष्टि उत्पत्ति' विषय पर था।

एक दिन स्वामीजी ने व्याख्यान दिया कि दु:ख-सुख की अनुभूति प्राय: लोगों की मानसिक अवस्था पर निर्भर होती है। इसमें उन्होंने एक महाजन का उदाहरण दिया, जो बहुत धनी था और उसका न्यायालय में एक मुकदमा चल रहा था। पेशी की तारीख से कुछ दिन पहले से ही वह चिन्ता की अग्नि में जलता रहा। उसके सेवक काम करके चले जाते और विश्राम करते, परन्तु वह दिन-रात इसी दु:ख में रहता कि पता नहीं मुकदमे में क्या होगा। पेशी के दिन नियत समय पर पालकी आ गयी, जिसमें खस की टट्टी भी लगी हुई थी। वह बैठा, परन्तु बहुत घबराया हुआ था। कचहरी में जाकर उतरा। कहारों ने विश्राम किया, परन्तु वह पहले की भांति ही शोकमग्न रहा। इससे यह सिद्ध होता है कि धन से सुख नहीं मिलता। धन पर अभिमान करना मूर्खों का काम है, न कि बुद्धिमानों का।

अभी स्वामीजी सहारनपुर में धर्म-प्रचार कर रहे थे कि उन्हें कस्बा चांदापुर, जिला शाहजहांपुर में होने वाले 'ब्रह्मविचार' मेले में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रण मिला। स्वामीजी ने उन्हें लिखा कि कम-से-कम दो सप्ताह तक यदि शास्त्रार्थ करें, तो मैं आ सकता हूं, दो-तीन दिन के लिए

नहीं। इसके उत्तर में मेले के प्रबन्धकों ने स्वामीजी को प्रार्थनापत्र भेजा कि हम दो सप्ताह का प्रबन्ध तो नहीं कर सकते, परन्तु एक सप्ताह का प्रबन्ध करेंगे, आप अवश्य पधारिये और जितने आपके साथ नौकर-चाकर हों, उनके विषय में हमको लिखें, ताकि हम आपकी सेवा में पहले से ही खर्च भेज दें। मेले के प्रबन्धकों ने पचास रुपये मार्ग व्यय के लिए भेजे, परन्तु स्वामीजी ने उसे स्वीकार नहीं किया। स्वामीजी बिहारी बाबू को लेकर चांदापुर गये। शेष सब सेवकों को सहारनपुर के रामबाग में ही छोड़ गये।

चांदापुर पहुंचकर स्वामीजी मेले में ही एक तम्बू में ठहरे। मेले में मौलवी और पादरी भी आये थे। मेले में मुसलमानों की संख्या भी अधिक थी, जिसे देखकर इन्द्रमन ने स्वामीजी से शास्त्रार्थ में थोड़ी नर्मी बरतने को कहा। स्वामीजी ने सत्य को छोड़ने से साफ इनकार कर दिया। 20 मार्च सन् 1877 को सुबह साढ़े सात बजे एक विशाल पण्डाल में शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। मुक्ताप्रसाद ने खड़े होकर अपने भाई प्यारेलाल की ओर से सब मतों के विद्वानों के सामने निम्नलिखित पांच प्रश्न रखे और उनका उत्तर मांगा—

1. सृष्टि को ईश्वर ने किस वस्तु से कब और क्यों रचा?, 2. ईश्वर सर्वव्यापक है अथवा नहीं?, 3. ईश्वर न्यायी और दयालु किस प्रकार है?, 4. वेद, बाइबिल और कुरान के ईश्वर वाक्य होने में क्या युक्ति है?, 5. मुक्ति क्या है और किस प्रकार हो सकती है?

कुछ समय तक पहले कौन बोले इस विषय पर विवाद होता रहा, फिर अन्त में पादरी स्काट साहब ने कहा कि यद्यपि यह प्रश्न किसी काम का नहीं, ऐसे प्रश्न का उत्तर देने में समय नष्ट करना मेरी समझ में अच्छा नहीं, परन्तु सबकी इच्छा का मान करते हुए मैं इसका उत्तर देता हूं—'ईश्वर ने सृष्टि को नास्ति से बनाया है। यह कब बनी, इसका किसी को ज्ञान नहीं है। यह मनुष्य के सुख भोग के लिए बनी है।' मौलवी मुहम्मद कासिम ने कहा—'ईश्वर ने सृष्टि को अपने स्वरूप से बनाया है। यह प्रश्न कि ईश्वर ने सृष्टि कब रची बिल्कुल व्यर्थ है। हमें आम खाने से प्रयोजन है न कि पेड़ गिनने से। ईश्वर ने सारी वस्तुएं मनुष्य के लिए रची हैं और मनुष्य को अपनी स्तुति करने के लिए बनाया है।'

पादरी और मौलवी का उत्तर सुनकर स्वामीजी इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले बोले—'यह मेला सत्य के निर्णय के लिए किया गया है। सत्य की सदा

जीत होती है और असत्य सदैव हारता है। सत्यासत्य के निर्णय के लिए हम लोगों को द्वेष भाव और हठ छोड़कर प्रेमपूर्वक वार्तालाप करके सत्य को ग्रहण करना चाहिए।' फिर स्वामीजी ने प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—'परमेश्वर ने सृष्टि को अवयक्त प्रकृति से बनाया है। जैसे ईश्वर अनादि है, वैसे ही जगत् का कारण भी अनादि है। यह जो अनेक प्रकार का जगत् दिखाई देता है, इसको उपादान कारण से ईश्वर ने रचा है। अभाव से भाव कभी नहीं हो सकता; क्योंकि इस जगत् में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका कोई कारण न हो। भाव से ही भाव होता है, अर्थात् अस्ति से अस्ति। नास्ति से अस्ति, अर्थात् अभाव से भाव किसी प्रकार नहीं हो सकता। ईश्वर के स्वरूप से भी जगत् की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है। जिस प्रकार घड़ा मिट्टी से पृथक् नहीं है, उसी प्रकार जगत् और ईश्वर भी एक ही हैं। इस प्रकार सभी प्रकार के पाप-पुण्य का कर्ता ईश्वर ही होगा। सृष्टि को बने हुए कितने वर्ष हो चुके हैं, इसका उत्तर हम आर्य लोग ही दे सकते हैं, सहस्र-दो सहस्र वर्षों से प्रचलित मतों के अनुयायी नहीं। आर्यों को ईश्वर का ज्ञान सृष्टि के आदि में मिला है। जब आर्य के यहां कोई शुभ कार्य होता है, तो उस समय पण्डित संकल्प का पाठ करता है। उसमें सृष्टि के आदि से संकल्प उच्चारण के समय तक के काल की गणना विद्यमान रहती है। इस वर्तमान सृष्टि को बने हुए 1972948972 वर्ष बीत चुके हैं।'

सृष्टि किसलिए बनायी, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वामीजी ने कहा—'जीव और जगत् का कारण दोनों अनादि हैं। जीव के कर्म तथा कार्यजगत् प्रवाह से अनादि हैं। जब प्रलय होता है, तो जीवों के कुछ कर्म शेष रह जाते हैं। उन कर्मों का भोग कराने के लिए और फल देने के लिए न्यायी ईश्वर सृष्टि की रचना करता है। सृष्टि रचने की शक्ति और गुण ईश्वर में स्वाभाविक है। वह अपने सामर्थ्य से सृष्टि निर्माण करता है, जिससे मानव धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त कर आनन्द प्राप्त करे।'

ग्यारह बजे तक यह बातचीत होती रही। मेले में उपस्थित लोग यही चर्चा कर रहे थे कि जैसा स्वामीजी के बारे में सुना था, उससे हजार गुना अधिक पाया। एक बजे फिर सब लोग एकत्र हुए। उस समय केवल मुक्ति पर बोलने का विचार हुआ। पादरी और मौलवी दोनों ने ही पहले बोलने से इनकार कर दिया, तब स्वामीजी ने मुक्ति पर बोलना आरम्भ किया—'मुक्ति

कहते हैं छूट जाने को। दु:खों से छूटकर एक सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहने और फिर जन्म-मरण आदि दु:खसागर में न गिरने को ही मुक्ति कहते हैं। वैदिक शिक्षा के अनुसार सत्याचरण, स्वाध्याय, सत्पुरुषों तथा ज्ञानीजनों का संग करना, ईश्वर की स्तुति उपासना और योगाभ्यास द्वारा अपने मन, इन्द्रियों और आत्मा को असत्य से हटाकर सत्य में स्थिर करना आदि कर्म मुक्ति-प्राप्ति के साधन हैं।' स्वामीजी के बाद मौलवी और पादरी भी बोले, परन्तु वह अपनी बात को सिद्ध न कर सके। स्वामीजी ने फिर अपने डेरे पर आकर धर्मसंवाद आरम्भ किया, जिसे सुनने के लिए सब आर्य लोग स्वामीजी के डेरे पर गये। तत्पश्चात् स्वामीजी मेले की समाप्ति पर वहां से चल दिये।

स्वामीजी चांदापुर में शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करके सहारनपुर लौट आये। फिर यहां से स्वामीजी पंजाब गये।

❑❑

पंजाब में स्वामीजी

स्वामीजी 31 मार्च, 1877 को लुधियाना पहुंचे। अगले दिन उन्होंने मुंशी जटमल साहब खजांची के मकान में व्याख्यान दिया। स्वामीजी ने आरम्भ में ही कह दिया था कि सात दिन मेरे व्याख्यान सुनो, बीच में कुछ मत बोलो। आठवें दिन व्याख्यान नहीं दिया जायेगा, उस दिन जिसका जो जी चाहे पूछ सकता है। स्वामीजी के सातों व्याख्यान हजारों लोगों ने शान्तिपूर्वक सुने, जिनसे वे अत्यन्त प्रभावित हुए।

एक दिन पादरी वेरी साहब, मिस्टर कारस्टीफन साहब और बहादुर जूडीशियल असिस्टेण्ट कमिश्नर के साथ पधारे और स्वामीजी से कृष्णजी के विषय में शंका की और कहा कि कृष्णजी के ऐसे कामों के साथ उनका महात्मा होना बुद्धि स्वीकार नहीं करती। इस पर स्वामीजी ने कहा—'यह जो आरोप लगाये जाते हैं, वह ठीक नहीं हैं। उन्होंने ऐसा कोई कार्य नहीं किया। परन्तु बुद्धि द्वारा स्वीकार के विषय में तो क्या कहूं। जब बुद्धि यह स्वीकार कर लेती है कि परमात्मा की आत्मा कबूतर के रूप में एक मनुष्य पर उतरी, तो इसके स्वीकार करने में कुछ अधिक कठिनाई नहीं होनी चाहिए।' तत्पश्चात् स्वामीजी ने पादरी को बहुत-सी ऐसी बातें बतायीं, जो असम्भव और कल्पित होने पर भी ईसाइयों द्वारा सत्य मानी जाती हैं।

वहीं पर एक व्यक्ति, जिसका नाम रामशरण था, वह खड़ा था। स्वामीजी के वचन सुनकर उसने स्वामीजी के चरण पकड़ लिये और बोला—'स्वामीजी! आपने मुझे ईसाई होने से बचा लिया। मैं मिशन स्कूल में अध्यापक हूं और पादरियों ने ईसाई धर्म की ऐसी प्रशंसा की कि मैं ईसाई हो जाने के लिए तैयार हो गया। परसों ही मुझे वे लोग बपतिस्मा देने वाले हैं, परन्तु आपके धर्म के सत्यार्थ प्रकाश ने मेरे अन्दर के अन्धकार को दूर कर दिया है।'

यहां पर स्वामीजी ने जादू-टोना, भूत आदि के खण्डन पर एक तमाशा दिखाया। वह जिस मकान में रहते थे, उसके तीन दर थे। उसके दोनों ओर के

आलों में एक-एक दीपक जलाकर रख दिया और फिर एक व्यक्ति को कहा कि एक दीपक बुझा दो। जब एक दीपक बुझा दिया, तो कहा कि दूसरे को भी बुझा दो। जब उस व्यक्ति ने दूसरा बुझाया, तो पहला दीपक जल उठा और जब उसको बुझाया, तो वह दूसरा दीपक जल उठा। दोनों दीपकों में 10-12 गज का अन्तर था। उन्होंने यह खेल कई बार किया। लोग यह समझ नहीं पा रहे थे कि एक दीपक को बुझाने पर दूसरा कैसे जल उठता है। खेल की समाप्ति पर लोगों के पूछे जाने पर स्वामीजी ने कहा—'यह कोई जादू नहीं है। इस प्रकार समझ में न आने वाली सारी बातों का सम्बन्ध या तो विज्ञान से है या बुद्धि-कौशल से, जिसे लोग हाथ की सफाई कहते हैं।'

लुधियाना से स्वामीजी लाहौर पहुंचे। लाहौर के रेलवे स्टेशन पर पण्डित मनफूल साहब आदि सज्जनों ने स्वामीजी का स्वागत किया और उन्हें दीवान रतनचंद साहब के बाग में ले गये। यहां स्वामीजी प्रतिदिन व्याख्यान देते और निर्भयता से हिन्दुओं के वर्तमान धर्म का खण्डन और वेदों का सच्चा उपदेश किया करते थे। स्वामीजी के व्याख्यानों के प्रभाव से नगर के पुराने विचार के लोगों और ब्राह्मणों में हलचल मच गयी। कई सज्जनों के दिल मूर्तिपूजा से फिर गये। कुछ ने तो मूर्तियों को पूर्णतया विस्मरण ही कर दिया और कुछ ने जाकर चुपके से रावी नदी में बहा दिया।

चूंकि स्वामीजी के उपदेशों से लोगों के विचार अपने धर्म पर दृढ़ हो चुके थे, इसलिए आर्यधर्म की उन्नति के लिए 24 जून, सन् 1877 को लाहौर नगर में आर्यसमाज की स्थापना की गयी। चूंकि इससे पहले बम्बई और पूना में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी और उनके नियम भी निश्चित हो चुके थे, किन्तु वे बहुत विस्तृत थे, उन विस्तृत नियमों को पंजाब में रहने वाले कुछ लोगों के कहने से स्वामीजी ने संक्षिप्त कर दिया। वे नियम हैं—

1. सब सत्यविद्या और विद्या से जो पदार्थ जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

2. ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा अनन्त, निर्विकार अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करना योग्य है।

3. वेद सब सत्यविद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और

सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

4. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

5. सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

7. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

10. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

आर्यसमाज के एक अधिवेशन में सभी सदस्यों की सम्मति से बाबू शारदाप्रसादजी ने यह प्रस्ताव रखा कि स्वामीजी को समाज के सम्बन्ध में कोई विशेष पदवी, यथा 'संरक्षक' अथवा 'पथप्रदर्शक' की दी जाये। तब स्वामीजी ने हंसकर कहा—'इस शब्द से गुरुपन की गन्ध आती है और मेरा उद्देश्य गुरुपन आदि पन्थों को तोड़ने का है, न कि स्वयं गुरु बनकर एक नया पन्थ स्थापित करने का।' फिर बाबू शारदाप्रसादजी ने कहा कि और नहीं तो हम आपको इस समाज का 'परम सहायक' कहेंगे। इस पर स्वामीजी ने कहा—'यदि मुझे आपने 'परम सहायक' माना, तो उस जगदीश, जगद्गुरु, सर्वशक्तिमान् सहायक को क्या कहोगे?' अन्त में स्वामीजी ने कहा—'मेरा नाम भी आप लोग समाज के सहायकों में प्रविष्ट कर लें, जैसे और लोग सहायक हैं, मैं भी एक सहायक हूं।'

जिन दिनों स्वामीजी ने लाहौर में आर्यसमाज स्थापित किया था, उन दिनों कॉलेज के लड़के उनके पास संस्कृत पढ़ने आया करते थे। उनमें से एक लड़का था, पण्डित गनतपराय, जो उन दिनों वकालत की शिक्षा प्राप्त कर रहा था। स्वामीजी उसे सच्चे वेदोक्त धर्म और संस्कृत की शिक्षा दिया करते थे। एक दिन स्वामीजी ने उससे पूछा—'गनतप! क्या तुम्हारा विवाह हो गया?' उसने कहा—'नहीं महाराज, परन्तु सगाई हो चुकी है।' स्वामीजी ने

कहा—'तुम विवाह न करना।' उसने पूछा कि महाराज, क्यों? उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि तुम्हारी आयु कुछ कम प्रतीत होती है, अर्थात् तीस वर्ष के भीतर है। स्वामीजी की यह बात सुनकर गनतपराय ने विवाह करने से इनकार कर दिया, परन्तु घरवालों की बहुत कहने-सुनने पर कि यह विचार कि मेरा जीवन थोड़ा है, झूठा है, ज्योतिष और साधु सदा सत्य नहीं होते, उसने विवाह कर लिया। स्वामीजी की बात ठीक निकली। अन्ततः 28 वर्ष की आयु में रोगी होकर वह इस संसार से चला गया। मरते समय उसने अपने समस्त मित्रों, सम्बन्धियों और अपनी पत्नी से कहा कि गुरु महाराज के आदेश का पालन न करके मैंने बहुत बड़ी गलती की है और अपनी पत्नी का जीवन नष्ट कर दिया है।

लाहौर में प्रचार-कार्य करने के बाद स्वामीजी अमृतसर गये। अमृतसर से भी स्वामीजी लाहौर आते थे, परन्तु एक-दो दिन से अधिक नहीं रहते थे। अमृतसर में स्वामीजी मियां मुहम्मद जान की कोठी में ठहरे। यहां भी स्वामीजी के व्याख्यानों ने पौराणिकों में खलबली मचा दी। उन लोगों ने स्वामीजी को नास्तिक और ईसाइयों का नौकर कहकर अपनी भड़ास निकाली।

एक दिन कई ब्राह्मण स्वामीजी की सेवा में आये। कुछ देर बातचीत करने के बाद एक ब्राह्मण बोला—'स्वामीजी! हम आपके पास कैसे आयें। आप तो कहते हैं कि ब्राह्मणों को गोदान का अधिकार नहीं है और ब्राह्मणों को कोई श्लोक भी याद नहीं है। यदि हम दान न लें, तो क्या खाक खायें?' स्वामीजी ने कहा—'हमने ऐसी बात नहीं कही, अपितु कहा है कि चूंकि विद्वान् नहीं हो, इसलिए तुमको दान लेने का अधिकार नहीं है और न वेदमन्त्र याद हैं। तुम दान लेते हो और खाकर विष्ठा कर देते हो, तुम खाक न खाओ, घास खाओ।' इसके बाद पण्डित निरुत्तर हो गया।

स्वामीजी के लगातार व्याख्यानों ने लोगों के हृदयरूपी क्षेत्र में 'सत्यधर्म' का बीज बो दिया था। परिणामस्वरूप, लोग आर्यसमाज की स्थापना करने के लिए उद्यत हो गये और 12 अगस्त, सन् 1877 को यहां आर्यसमाज की स्थापना हुई।

एक दिन अमृतसर के कमिश्नर ने स्वामीजी से पूछा—'स्वामीजी! हिन्दू धर्म सूत के धागों के समान कच्चा क्यों है?' स्वामीजी ने कहा—'यह धर्म सूत के धागे के समान कच्चा नहीं है, अपितु लोहे से भी अधिक पक्का है।

लोहा टूट जाये, तो टूट जाये, परन्तु यह कभी नहीं टूटता। यदि हिन्दू धर्म धागे के समान निर्बल होता, तो सैकड़ों वर्षों से दूसरे मतों से टक्करें खाते-खाते अब तक तो वह बिल्कुल समाप्त हो गया होता। हिन्दू धर्म एक विशाल सागर के समान है। जिस प्रकार सागर में असंख्य नदियां आकर गिरती हैं, उसी प्रकार हिन्दू धर्म में विभिन्न विचार-रूपी तरंगें विद्यमान हैं, अर्थात् इस धर्म में आपको हर प्रकार के लोग मिल जायेंगे, वे सभी हिन्दू हैं। कोई इनको हिन्दू धर्म से नहीं निकाल सकता। इसलिए यह समझना चाहिए कि यह धर्म अत्यन्त पक्का है, कच्चा नहीं।'

कमिश्नर साहब ने दूसरा प्रश्न किया—'आप किस प्रकार का मत बढ़ाना चाहते हैं?' इस पर स्वामीजी ने कहा—'हम केवल यह चाहते हैं कि सब लोग पवित्र वेद की आज्ञा का पालन करें और केवल निराकार अद्वितीय परमेश्वर की पूजा और उपासना करें। शुभ गुणों को ग्रहण करें और अशुभों को त्याग दें।'

मनसुखराय को धर्म-कर्म से कोई लेना देना नहीं था। वह किसी साधु-संन्यासी से नहीं मिलता था। उसके पिता चाहते थे कि वह किसी को गुरु बनाये, परन्तु वह किसी को गुरु नहीं बनाता था। जब उसने स्वामीजी के उपदेश सुनने आरम्भ किये, तो उसके सभी सन्देह दूर हो गये और उसने स्वामीजी को गुरु बनाना चाहा। वह मिश्री का थाल भरकर स्वामीजी के पास गया और उसे स्वामीजी को अर्पण कर उनसे दीक्षा ली। तत्पश्चात् गुरु मन्त्र पूछा। स्वामीजी ने कहा—'गायत्री ही गुरुमन्त्र है।' मनसुखराय भी समाज का सदस्य बन गया।

एक दिन पादरी क्लार्क ने स्वामीजी से कहा कि हम और आप एक मेज पर खाना खायें। स्वामीजी ने कहा कि इससे क्या होगा? पादरी साहब ने कहा कि इससे मित्रता बढ़ेगी। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि सुन्नी और शिया, मुसलमान और रूसी व इंग्लैण्ड वाले एक पात्र में खा लेते हैं और तुम और रोमन कैथलिक एक मेज पर खा लेते हो, पर हृदय से एक-दूसरे के शत्रु हो, फिर आपके केवल मेज पर खाने से हमारी दूसरे धर्म वालों से किस प्रकार मित्रता हो सकती है? यह सुनकर पादरी क्लार्क निरुत्तर हो गये।

अमृतसर में निवास के दौरान स्वामीजी गुरुदासपुर भी गये। स्वामीजी के गुरुदासपुर आने की खबर सुनकर डॉक्टर बिहारीलाल ने अपने भाई को

गाड़ी लेकर अमृतसर भेजा। गुरुदासपुर में स्वामीजी के आने की चर्चा पहले से ही फैल गयी थी। इसलिए उनके आने के दिन बहुत से नगरवासी और जिले के सरकारी कर्मचारी घोड़ों पर चढ़कर और पैदल नगर के बाहर उनका स्वागत करने गये और उन्हें डॉ० बिहारीलाल की कोठी में ठहराया।

स्वामीजी ने वहां पहुंचकर 15-20 मिनट विश्राम करने के उपरान्त मूर्तिपूजा पर अपना व्याख्यान आरम्भ किया। फिर 'अवतार' और 'ईश्वर' विषय पर व्याख्यान दिया। गोरक्षा और उसके लाभ, इसी प्रकार आवागमन, श्राद्ध और आर्यवर्त की प्राचीन दशा पर भी व्याख्यान दिये।

मियां हरिसिंह साहब और मियां शेरसिंहजी कट्टर 'मूर्तिपूजक' थे। एक दिन इन दोनों ने गणेशगिरिजी से जाकर कहा कि आप चलकर दयानन्द से शास्त्रार्थ करो। गणेशगिरिजी ने कहा कि चूंकि हम साधु विरक्त हैं, इसलिए किसी से शास्त्रार्थ करना हमारे नियम के अनुकूल नहीं है। यदि तुमको शास्त्रार्थ कराना है, तो किसी पण्डित को बुलाओ। यदि तुम मुझे अधिक तंग करोगे, तो मैं यहां ये चला जाऊंगा। अन्त में दोनों मियां लोगों ने पण्डित लक्ष्मीधरजी व पण्डित दौलतरामजी को स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए बुलवाया। स्वामीजी शिवपुराण का खण्डन कर रहे थे कि उसी समय ये पण्डित महोदय आये। स्वामीजी ने एक कहानी सुनायी और कहा कि यह अश्लील लीलाएं इस पुस्तक में भरी पड़ी हैं। दोनों पण्डितों ने बीच में कहा—'यह झूठ बकता है।' डॉ० बिहारीलाल ने उन्हें समझाया कि पहले सब कुछ सुन लें, उसके बाद आक्षेप करें। परन्तु उनकी बातों को नहीं माना गया। वे लोग तो झगड़ा करने पर उतारू थे। जब स्वामीजी ने देखा कि ये लोग व्याख्यान आगे नहीं बढ़ाने दे रहे हैं, तो उन्होंने कहा—'आप लोगों में से कोई एक व्यक्ति सामने की कुरसी पर बैठकर इच्छानुसार प्रश्न कर सकता है।' तब हरिसिंह ने कहा—'यह कोई वेश्याओं का खेल है, जो सामने बैठकर खेलें। हम तो यहीं से शास्त्रार्थ करेंगे और सब एक साथ करेंगे।' इस असभ्यपूर्ण वाक्य की उपेक्षा की गयी और स्वामीजी ने कहा कि ठीक है, जिस प्रकार आप चाहते हैं, वैसे ही शास्त्रार्थ होगा।

तब पण्डितों ने 'गणनां त्वा' आदि मन्त्र पढ़कर कहा कि इससे गणेशजी की मूर्ति सिद्ध होती है। स्वामीजी ने कहा—'क्या इस पर आप किसी भाष्य का प्रमाण दे सकते हैं?' पण्डितों ने महीधर की चर्चा की, जिसे सुनकर

स्वामीजी ने तुरन्त महीधर का भाष्य निकालकर आगे रखा और उसका अश्लील अर्थ लोगों को सुनाया और दिखाया कि न तो इससे मूर्तिपूजा सिद्ध होती है और न गणेशपूजा। लोगों को स्वामीजी की बातें उचित लगीं। जब हरिसिंह ने अपने पण्डितों को हारते हुए देखा, तो उसने अपनी हार को जीत में बदलने के लिए स्वामीजी से अपशब्द कहे, जिसे सुनकर डॉ० बिहारीलाल ने आवेश में आकर मियां साहब को बहुत धिक्कारा। डाक्टर साहब और मियां साहब की परस्पर विरोधात्मक बातचीत होकर सभा विसर्जित हो गयी।

यहां भी स्वामीजी ने 24 अगस्त, सन् 1877 को आर्यसमाज की स्थापना की। यहां से स्वामीजी बटाला गये। वहां कुछ देर विश्राम करने के बाद अमृतसर चले गये। अमृतसर में थोड़े दिन रहकर स्वामीजी सितम्बर के महीने में जालन्धर पधारे और सरदार साहब की कोठी में ठहरे। यहां पर स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में प्रकरण के अनुसार मनोरंजक कहानियां भी सुनायीं।

एक दिन स्वामीजी ने राजाओं की वर्तमान दशा पर व्यंग्य करते हुए एक उदाहरण दिया—'एक बार एक राजा ने बैंगन खाने का विचार प्रकट किया। पुरोहित ने कहा कि महाराज कैसी उत्तम वस्तु है, देखिये रंग इसका श्याम, कृष्णजी के समान, मुख में बंसरी या सिर पर मोर मुकुट और नाम कैसा कि बहुगुण! राजा बहुत प्रसन्न हो गये और बड़े आनन्द से खाने लगे। कई बार खाने से रक्त आने लगा और अर्श हो गयी। तब उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। राजा ने पुरोहितजी को बुलाकर कहा कि यह बैंगन तो बहुत बुरे हैं। पुरोहित ने कहा कि महाराज आप सत्य कहते हैं। देखिये, इसका रंग काला, जैसे हब्शी या भंगी का, सिर पर सूली का चिह्न और कांटों का ताज, अत्यन्त बुरी दशा, बीज ऐसे, जैसे किसी को कोढ़ हो, नाम कैसा बुरा, अर्थात् बेगुन।'

स्वामीजी जालन्धर से पुनः लाहौर पधारे और नवाब रजाअली खां के बाग में ठहरे। यहां वह रविवार को आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में सम्मिलित हुए। सत्संग समाप्त हो जाने पर वे दो-ढाई सौ भक्तों सहित ब्राह्म-समाज के उत्सव पर पधारे।

पंजाब के सभी नगरों में स्वामीजी की चर्चा होने लगी। उन दिनों कुछ व्यक्तियों ने फीरोजपुर छावनी में 'हिन्दू सभा' के नाम से सत्संग स्थापित कर रखा था। उसके कुछ सदस्यों ने लाहौर में स्वामीजी के उपदेशों को सुना था। उन्होंने वहां आकर बताया कि एक स्वामीजी आये हैं, जो मूर्तिपूजा आदि का

खण्डन करते हैं और अपने वेद-शास्त्र का महत्त्व सब धार्मिक पुस्तकों से अधिक करते हैं। यह सुनकर वहां उपस्थित सभी लोग स्वामीजी के दर्शनों के लिए व्याकुल हो गये। उन्होंने स्वामीजी को लाने के लिए एक व्यक्ति को लाहौर भेजा। ला० मथुरादासजी ने तो स्वामीजी के आगमन की प्रसन्नता में ही एक मकान विशेष रूप से सुसज्जित कराया। परन्तु वह स्थान आवास बस्ती में था, इसलिए स्वामीजी नगर के बाहर बनवारीलाल की कोठी में ठहरे। उनके व्याख्यानों का प्रबन्ध मथुरादास के घर के सामने वाले खुले स्थान में एक सुन्दर पण्डाल बनाकर किया गया। यहां पर भी स्वामीजी के उपदेशों का लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि हिन्दू-सभा का नाम बदलकर 'आर्यसमाज' रख दिया गया। फिर स्वामीजी फिरोजपुर से चलकर लाहौर पहुंच गये।

तत्पश्चात् स्वामीजी 7 नवम्बर, सन् 1877 को रेल द्वारा रावलपिंडी पहुंचे। रावलपिंडी में स्वामीजी जामास्पजी की कोठी में ठहरे। यहां उन्होंने लगभग 20 व्याख्यान दिये।

एक दिन स्वामीजी ने व्याख्यान में बाइबिल में आयी हुई लूत की कथा सुनाते हुए कहा कि बाइबिल में पैगम्बर का अपनी बेटियों से व्यभिचार करने का वर्णन है। दूसरे दिन बहुत-से ईसाई मिलकर स्वामीजी के पास आये और कहने लगे कि कल रात जो आपने लूत के विषय में कहा, वह सब झूठ है। स्वामीजी ने कहा कि मुझे यह विदित था कि तुमको इस बात की लज्जा होगी। फिर स्वामीजी ने बाइबिल मंगवाई और उसमें वह कहानी दिखाई, जिसे देखकर वे लोग अत्यन्त लज्जित हो गये।

इतने में लोगों ने जामास्पजी को प्रेरित करना आरम्भ किया कि स्वामीजी को यहां मत रहने दो। स्वामीजी उनके कहने से पूर्व ही सरदार सुजानसिंह के बाग में चले गये। यहां स्वामीजी ने 10 व्याख्यान दिये।

रावलपिंडी में ही स्वामीजी को महाराजा जम्मू व कश्मीर का निमन्त्रण मिला, परन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। स्वामीजी का मानना था कि महाराजा पक्के मूर्तिपूजक हैं। उन्होंने बहुत-से मन्दिर बनवाये हैं। उनके यहां पौराणिक पण्डितों का बहुत मान है। मेरी आलोचना से महाराज और पण्डित सभी चिढ़ जायेंगे, जिससे लाभ नहीं उठा सकेंगे।

रावलपिंडी में भी आर्यसमाज की स्थापना करके स्वामीजी जेहलम चले

गये। यहां वे सेठ जामाजी के बंगले पर ठहरे। यहां स्वामीजी ने अपने व्याख्यान गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में दिये। उस समय जेहलम स्कूल के हेडमास्टर मिस्टर शिवचरण घोष एक बंगाली ईसाई थे। स्वामीजी से वे शास्त्रार्थ में ऐसे परास्त हुए कि फिर स्वामीजी के व्याख्यानों में किसी बात पर आक्षेप करना तो दूर, कभी स्वामीजी के सम्मुख आकर भी नहीं बैठे, परन्तु व्याख्यान प्रतिदिन सुनते रहे। जेहलम में स्वामीजी के व्याख्यानों का यह परिणाम हुआ कि उनके वहां रहते-रहते ही एक आर्यसमाज स्थापित हो गया।

तत्पश्चात् स्वामीजी डॉ० बिशनदास साहब के बुलाने पर 13 जनवरी, 1878 को गुजरात गये और पहले दिन दमदम में रहे। दूसरे दिन फतहनगर पधारकर वहां डेरा किया। यहां स्वामीजी नगर के ब्रांच स्कूल में व्याख्यान दिया करते थे। यहां भी लोगों की भीड़ रहती थी। पौराणिक लोग ईंटें फेंकते थे और कुछ सभ्य लोग उन उपद्रवियों को धमकाते और पकड़ना चाहते थे, परन्तु स्वामीजी हंसकर टाल देते और कहते—'भाई! आप बुद्धिमान् हैं, ऐसे पागलों को क्षमा करके जाने दो। उनकी यही चिकित्सा है कि उनको सदुपदेश दिया जाये। हमारे साथ यह कोई नयी बात नहीं है।'

गुजरात में स्वामीजी ने पहला व्याख्यान देश की अवस्था पर दिया। फिर घरेलू विषय, बाल्यावस्था में विवाह आदि बहुत-सी बातों की, जो देश को बिगाड़ने वाली हैं, चर्चा करके उनके सुधार के उपाय बताये। फिर स्वामीजी ने मूर्तिखण्डन पर भी व्याख्यान दिया।

गुजरात से रेल में चढ़कर स्वामीजी वजीराबाद गये और समन बुर्ज में ठहरे। पौराणिक यहां भी विरोध करने पर तुले हुए थे। स्वामीजी के वजीराबाद पहुंचने से पहले ही वहां के प्रसिद्ध ब्राह्मण नगर छोड़कर चले गये। फिर बहुत-से लोगों ने एक-सौ रुपये की दक्षिणा देकर पण्डित वासुदेव को स्वामीजी के सामने खड़ा किया। उसने अपने सिर पर सिखों की भांति बाल रखे हुए थे। उसकी जीविका का साधन भिक्षा मांगना था। उस पण्डित ने वेद मन्त्र के नाम से एक श्लोक पढ़कर कहा—'इसमें शालग्राम और तुलसी की पूजा का विधान है।' स्वामीजी ने कहा—'यह मूल मन्त्र नहीं, प्रत्युत किसी मन्त्र की व्याख्या है। आप मुझे मूल मन्त्र दिखाइये।' वासुदेव कुछ न बोला। स्वामीजी शान्त भाव से वासुदेव से वेद में मन्त्र दिखाने के लिए कह रहे थे कि तभी एक लड़का बीच में आकर सीटी बजाने लगा। आर्यसमाज के प्रधान ने

उसे डांटते हुए ऐसा करने से रोका। इधर अपने पक्ष को बिल्कुल टूटता हुआ देखकर लोगों ने स्वामीजी पर आक्रमण कर दिया। आर्यसमाज वजीराबाद तथा जेहलम के सदस्यों ने स्वामीजी को किसी प्रकार उनके कमरे में पहुंचाया। तभी स्वामीजी का हिन्दुस्तानी क्लर्क लाठी लेकर भीड़ में गया, लोगों ने उसे बहुत मारा। जब स्वामीजी को यह वृत्तान्त मालूम हुआ, तो वे स्वयं लाठी लेकर बाहर निकले और प्रबल गर्जन की, जिसे सुनकर लोग भाग गये। इसके पश्चात् भी कई दिन तक स्वामीजी ने व्याख्यान दिये।

कुछ दिनों बाद स्वामीजी गुजरांवाला गये। वहां सरदार सन्तसिंह, सरदार ईश्वरसिंह, मुंशी हजूरासिंहजी उनको स्टेशन पर लेने आये। स्वामीजी यहां पधारकर सरदार महासिंह की समाधि के भव्य भवन में ठहरे। यहां पर स्वामीजी ने अपनी पुस्तक 'आर्य्योद्देश्यरत्नमाला' में लिखे हुए उद्देश्यों पर व्याख्यान दिये। यहां भी पादरी लोग उनसे वैर रखते थे। उन्होंने स्वामीजी से उनके धार्मिक सिद्धान्त पूछे, जिसके उत्तर में स्वामीजी ने 'आर्य्योद्देश्यरत्नमाला' की एक प्रति उनके पास भेज दी। उस प्रति के पहुंचने पर पादरी लोगों ने पं० विद्याधरजी को स्वामीजी से शास्त्रार्थ के लिए कहा। पं० विद्याधरजी प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृत पाठशाला के अध्यापक थे। उन्होंने कहा कि स्वामीजी से हमारा कोई निजी मतभेद तो है नहीं। हमारे लिए इस समय पादरियों के कहने पर व्यर्थ ही अपने घर में झगड़ा उत्पन्न करना ठीक नहीं। पं० विद्याधर का उत्तर सुनकर पादरी लोगों ने स्वयं ही स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की ठानी।

शास्त्रार्थ पादरियों के गिरजाघर में चार बजे आरम्भ हुआ। वहां बहुत-से पादरी उपस्थित थे। शास्त्रार्थ करने वाले पादरी सोलफीट थे। पादरी सोलफीट ने आक्षेप किया कि 'यदि जीव भी अनादि माना जाये और ईश्वर भी अनादि, तो वे दोनों समान हो गये।' स्वामीजी ने इस बात का विद्वत्तापूर्ण प्रमाणों और बौद्धिक युक्तियों से खण्डन किया और कहा कि वे दोनों समान नहीं होते, प्रत्युत स्वामी और सेवक होते हैं। दो दिन तक प्रश्नोत्तर होते रहे। तीसरे दिन पादरियों ने स्वामीजी से पीछा छुड़ाने का विचार किया। दूसरे दिन स्वामीजी ने उनसे कहा था कि गिरजाघर एक तंग स्थान है, जहां से इस शास्त्रार्थ को सुनने के सैकड़ों इच्छुक शास्त्रार्थ के लाभ से वंचित रहकर घर वापस लौट जाते हैं। अन्दर बैठे हुए लोगों का भी स्थान की तंगी और श्रोताओं की अधिकता के कारण दम घुटने लगता है। इसलिए शास्त्रार्थ किसी खुले स्थान

पर होना चाहिए।

उस समय पादरियों ने कुछ नहीं कहा, परन्तु अगले दिन लगभग 12 बजे दिन में कुछ ईसाइयों और स्कूल के लड़कों को एकत्रकर स्वामीजी को कहलवा भेजा कि शास्त्रार्थ 12 बजे पाठशाला में होगा। आप यहां तुरन्त आ जायें। स्वामीजी यह सुनकर आश्चर्यचकित हो गये। चूंकि स्वामीजी प्रत्येक कार्य अपने नियत समय पर ही करते थे, इसलिए उन्होंने कहलवा भेजा—'जब दोनों पक्षों की सम्मति से शास्त्रार्थ का समय 4 बजे का निश्चित हुआ है और लोगों को भी वही समय ज्ञात है, तो 12 बजे शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है।' पादरी लोगों ने कुछ क्रिश्चियन और कुछ स्कूल के लड़कों को कुरसियों पर बैठाकर उनको सुनाया कि चूंकि स्वामीजी अब 12 बजे नहीं आते हैं, इसलिए वे हारे हुए समझे जायें। यह कहकर सभा विसर्जित हुई।

स्वामीजी को पादरियों की इस मूर्खतापूर्ण कार्रवाई पर बहुत क्रोध आया। स्वामीजी की प्रार्थना पर नगर के कुछ प्रसिद्ध सज्जनों ने सायंकाल 4 बजे समाधि के समीप एक विस्तृत स्थान पर दरी, मेज, कुरसी आदि सब सामग्री जुटकार शास्त्रार्थ का प्रबन्ध कर दिया और चूंकि वह स्थान उस गिरजाघर के समीप था, जहां पहले दो दिन शास्त्रार्थ हुआ था, इसलिए जो लोग वहां नित्य की भांति शास्त्रार्थ सुनने के लिए आये, वे उसी स्थान पर पहुंच गये, जहां शास्त्रार्थ का प्रबन्ध था। स्वामीजी ने पादरियों को वहां आकर शास्त्रार्थ करने के लिए कहा, परन्तु वे लोग नहीं आये। इसलिए विवश होकर स्वामीजी ने नियत समय से लगभग पौन घण्टा पश्चात् व्याख्यान देना आरम्भ किया। उस दिन व्याख्यान भी इंजील की शिक्षा पर था, जिसमें उन्होंने ईसाई मत का अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण और रोचक ढंग से खण्डन किया।

इसके पश्चात् स्वामीजी गुजरांवाला में 10-12 दिन तक रहे, परन्तु कोई पादरी उनसे शास्त्रार्थ करने की हिम्मत न कर सका। फिर स्वामीजी यहां आर्यसमाज की स्थापना कर लाहौर चले गये। वहां से वे होलियों में मुलतान पधारे। स्टेशन पर लोगों ने उनका स्वागत किया और उन्हें बेगी उद्यान में निवास कराया। यहां भी स्वामीजी के उपदेशों का अच्छा प्रभाव पड़ा।

पहले दिन स्वामीजी ने सृष्टि विषय पर व्याख्यान दिया। इसी प्रकार दो-तीन दिन तक विद्या सम्बन्धी व्याख्यान होते रहे, तत्पश्चात् स्वामीजी ने गोकुलिया गोसांईयों के मत का खण्डन किया। इस खण्डन को सुनकर नगर

में कोलाहल मच गया; क्योंकि उस नगर में इस मत के लोग अधिक थे। यही लोग प्रसिद्ध करने लगे कि स्वामीजी ईसाइयों के नौकर हैं और भारत वर्ष को ईसाई बनाने के लिए इनको ईसाइयों के पोप की ओर से एक लाख रुपया दिया जायेगा। इन्हीं दिनों एक दिन नगर के प्रतिष्ठित गोसांई गोपालजी वाले अपने सेवकों सहित वहां उपद्रव करने और दंगा मचाने के अभिप्राय से गये। स्वामीजी के समीप जाकर व्याख्यान के समय शंख, घड़ियाल बजाने और जयकारे बुलाने लगे, परन्तु स्वामीजी इन सबकी चिन्ता न करते हुए व्याख्यान देते रहे। होली के दिन थे और उपद्रवी कोलाहल मचा रहे थे, इसलिए स्वामीजी के व्याख्यान बहरामजी की कोठी में होने लगे।

एक दिन स्वामीजी के व्याख्यान की समाप्ति पर एक पारसी ने प्रश्न किया कि स्वामीजी आप कहते हैं कि आर्यवर्त के रहने वाले सब भाई हैं, तो फिर क्या कारण है कि हिन्दू भाई हमारे साथ खाने से परहेज रखते हैं? आपस में मिलकर खाने से प्रेम बढ़ता है। स्वामीजी ने उत्तर दिया—'आर्यवर्त की नीति के अनुसार मिलकर खाना वर्जित है; क्योंकि बहुत-से रोग हैं, जो एक-दूसरे के साथ जूठा खाने या पानी पीने से अथवा हुक्का पीने से तत्काल दूसरे को प्रभावित करते हैं। दूसरे, यदि इकट्ठा खाने से प्रेम बढ़ता, तो मुसलमान भाई कभी एक-दूसरे के साथ झगड़ा न करते।'

उन दिनों मुसलमान लोग कहते थे कि देखो, हिन्दुओं में एक साधु आया है, जो कहता है कि चार पुस्तकें ईश्वरोक्त हैं, यद्यपि हमारे पास केवल एक है। कई मौलवी स्वामीजी के पास गये, परन्तु निरुत्तर होकर लौट आये। स्वामीजी ने यहां 36 व्याख्यान दिये और फिर वे लाहौर चले गये। मुलतान में 4 अप्रैल, 1878 में 'आर्यसमाज' की स्थापना की गयी थी।

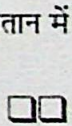

पश्चिमोत्तर प्रदेश, बिहार तथा बम्बई में धर्म-प्रचार

25 जुलाई, 1878 को स्वामीजी रुड़की पधारे और यहां उन्होंने लाला शम्भुनाथ देहलवी के बंगले में निवास किया।

एक दिन स्वामीजी उपदेश दे रहे थे, तभी एक मजहबी सिख आकर बैठ गया और रुचिपूर्वक स्वामीजी की बातें सुनने लगा। तभी एक डाकिया वहां आया और उसे देखकर उस पर चिल्लाने लगा कि अरे! मनहूस, अशुभ, अपिवत्र, तू ऐसे महान् और जगत्प्रसिद्ध व्यक्ति की सेवा में क्यों आ बैठा है। तूने इन्हें अपनी जात भी नहीं बतायी। पूछताछ पर पता चला कि वहा व्यक्ति मजहबी था। वह व्यक्ति अत्यन्त लज्जित होकर अलग जा बैठा। उसकी आंखें भर आयीं। स्वामीजी ने डाकिये से कहा कि ऐसा अत्याचार करना उचित नहीं था। फिर स्वामीजी ने उससे कहा कि परमेश्वर की सृष्टि में सब मनुष्य बराबर हैं और फिर मजहबी व्यक्ति से कहा कि तुम नित्य आकर उपदेश सुनो, तुम्हें यहां कोई घृणा से नहीं देखेगा। स्वामीजी के यह कहने पर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और नित्य व्याख्यान में आने लगा।

स्वामीजी नित्य प्रति व्याख्यान करते रहे, जिससे कुछ सज्जनों के मन में धर्म का उत्साह उत्पन्न हो गया और उन्होंने स्वामीजी के व्याख्यानों से समस्त आवश्यक वृत्तान्त जानकर 20 अगस्त, 1878 को 'आर्यसमाज' स्थापित किया। फिर 22 अगस्त को स्वामीजी रुड़की से अलीगढ़ चले गये।

अलीगढ़ में स्वामीजी पं० आफताबराय के बाग में ठहरे। यहां स्वामीजी से भेंट करने के लिए हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा, बम्बई से आये। चूंकि स्वामीजी का स्वास्थ्य कुछ बिगड़ गया था, इसलिए यहां उन्होंने कम व्याख्यान दिये, परन्तु निवासस्थान पर नित्य साधारण उपदेश देते रहे।

26 अगस्त को स्वामीजी अलीगढ़ से चलकर मेरठ पहुंचे और ला० दामोदरदास की कोठी में ठहरे। स्वामीजी के पधारने का समाचार समस्त नगर और छावनी में फैल गया। अगले दिन स्वामीजी ने उक्त कोठी के बरामदे में बैठकर उपस्थित लोगों को उपदेश देना आरम्भ किया। इसी प्रकार का कार्यक्रम सप्ताह भर चलता रहा।

मेरठ की 'धर्मरक्षिणी सभा' की ओर से कुछ प्रश्न स्वामीजी को लिखकर भेजे गये, जिनका स्वामीजी ने युक्तियुक्त उत्तर दिया। उन उत्तरों को सुनकर 'धर्मरक्षिणी सभा' ने मौन धारण कर लिया।

मेरठ छावनी में मिशन स्कूल के पास ही एक विशाल भवन था। उसके बाहरी कमरे में कुछ लोग बातें कर रहे थे कि दयानन्दजी से कैसे निपटा जाये। एक सेठ ने कहा—'पण्डितजी! मैंने उसे ठीक करने का उपाय सोच लिया है। हम दो-चार गूजरों को दस-पांच रुपये देकर उसके हाथ-पैर तुड़वा देंगे।' वहां उपस्थित सभी लोगों ने सेठजी की बातों का समर्थन किया।

जब स्वामीजी उपदेश देकर अपने स्थान को लौटने लगे, तो उनके भक्तों ने मार्ग में कई हट्टे-कट्टे गूजरों को देखा। उन्हें देखकर भक्त स्वामीजी से बोले कि स्वामीजी! आप कुछ देर यहीं ठहर जाइये, हम लोग आपकी सुरक्षा का प्रबन्ध करते हैं। स्वामीजी ने हंसते हुए कहा—'वे लोग कुछ नहीं कर सकेंगे। मैं उस परमपिता परमेश्वर के भरोसे अपनी रक्षा के लिए सर्वथा निश्चिन्त हूं। मैंने एक सज्जन को समय दे रखा है, इसलिए में यहां नहीं रूक सकता।' यह कहकर वह चल दिये। जब तक भक्तजन कुछ आदमियों को वहां लेकर पहुंचते, स्वामीजी सुरक्षित अपने डेरे पर पहुंच चुके थे। स्वामीजी के महान् व्यक्तित्व को देखकर किसी भी गूजर ने उनके सामने आने का साहस नहीं किया था।

एक दिन बख्तावर सिंह सब-जज अपने छोटे भाई को लेकर स्वामीजी से मिलने के लिए आये। स्वामीजी ने उन्हें देखकर कहा—'जज महोदय! आपके भाई की आयु 16 वर्ष से अधिक नहीं लगती। इतनी छोटी आयु में ही आपने इसका विवाह क्यों कर दिया है? जब आप-जैसे पढ़े-लिखे लोग ही इस कुप्रथा को नहीं हटायेंगे, तो आर्य-जाति का सुधार कैसे सम्भव होगा? बाल-विवाह की प्रथा आपकी जाति के जीवन की जड़ में घुन बनकर उसको नष्ट कर रही है। यदि आपको अपने भाई के जीवन से प्यार है, तो इसका

गौना पच्चीस वर्ष की अवस्था से पहले न लेना।'

स्वामीजी का उपदेश मेरठ में लगभग एक मास तक अच्छी प्रकार से होता रहा और 29 सितम्बर, सन् 1878 में मेरठ में 'आर्यसमाज' की स्थापना हुई।

मेरठ से स्वामीजी दिल्ली आये और यहां उन्होंने ला० बालमुकुन्द केसरीचन्द के बाग में निवास किया। यहां भी स्वामीजी ने अपने व्याख्यान दिये। स्वामीजी के सत्योपदेशों के फलस्वरूप दिल्ली में नवम्बर, सन् 1878 में आर्यसमाज की स्थापना हुई। तत्पश्चात् स्वामीजी दिल्ली से रेलगाड़ी द्वारा अजमेर चले गये। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को स्वामीजी पुष्कर के मेले में गये और वहां जोधपुर के घाट पर ठहरे। यहां भी उन्होंने अपना धर्म-प्रचार कार्य किया। फिर स्वामीजी अजमेर लौटकर सेठ रामप्रसाद के बाग में ठहरे और व्याख्यान देने आरम्भ किये। यहां एक यूरोपीय पादरी स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए आया। जब वह स्वामीजी के प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सका, तो वह शास्त्रार्थ अधूरा छोड़कर ही चला गया। पादरी की यह हालत देखकर नगर के कई मौलवी डर गये और स्वामीजी से शास्त्रार्थ को तैयार न हुए। इस बात का लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

स्वामीजी मसूदा के राव महाशय की प्रार्थना पर वहां गये। वहां से स्वामीजी नसीराबाद भी गये। यद्यपि यहां व्याख्यान थोड़े ही हुए, तथापि लोग जागृत हो गये। नसीराबाद से स्वामीजी 14 दिसम्बर, सन् 1878 को जयपुर चले गये। जयपुर के तब के प्रधानमन्त्री फतहसिंहजी ने स्वामीजी का बड़ा सत्कार किया।

रिवाड़ी के राव ने दिल्ली के शाही दरबार में स्वामीजी के दर्शन किये थे। तभी से वे स्वामीजी के भक्त बन गये थे। उनकी प्रार्थना पर स्वामीजी रिवाड़ी गये और धर्म-प्रचार के कार्य में जुट गये।

स्वामीजी ने गंगाप्रसाद को गायत्री मन्त्र सिखाकर नित्य जप करने के लिए कहा। एक दिन गंगाप्रसाद ने आकर कहा—'स्वामीजी! यहां के ब्राह्मण तो कहते हैं कि स्वामीजी ने तुम्हें ब्रह्म-गायत्री नहीं बताई। गायत्री प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग हैं।' स्वामीजी ने कहा—'जो कोई ऐसा कहता है, उसे मेरे पास लाओ।' गंगाप्रसाद ने सभी ब्राह्मणों को आकर वैसा ही कहा, परन्तु कोई भी ब्राह्मण उनके साथ नहीं गया।

एक बार एक साधु ने स्वामीजी को कहा कि मैं ब्रह्म हूं। इसे सुनकर स्वामीजी ने कहा—'ईश्वर ने सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि को बनाया है, इसलिए वह ब्रह्म है। यदि तू एक हाथ भर पृथिवी रचकर हमें दिखाये, तो हम तुझको परमेश्वर, अर्थात् ब्रह्म मानें।' स्वामीजी का कथन सुकनर वहां उपस्थित सभी लोग हंस पड़े और वह साधु मौन हो गया।

यहां से स्वामीजी दिल्ली गये और यहां उन्होंने बालमुकुन्द किशोरीचन्द के मोतीबाग में निवास किया। इस बार स्वामीजी ने केवल 2-3 व्याख्यान ही दिये। यहां कुछ दिन ठहरकर स्वामीजी मेरठ गये और वहां से शीघ्र ही हरिद्वार चले गये। यहां उन्होंने श्रवणनाथ और निर्मलों के अखाड़े के सामने मूला मिस्त्री के खेत में अपना डेरा डाला। यहां पर व्याख्यानों के लिए सुन्दर मण्डप तैयार किया गया। स्वामीजी अपने व्याख्यानों की सूचना देने के लिए मेरठ से ही विज्ञापन छपवाकर अपने साथ लाये थे और उन्हें कुम्भ के मेले में बंटवाकर सर्वसाधारण को इनकी सूचना दी। स्वामीजी के आने का समाचार पाते ही हजारों लोग उनके दर्शनों के लिए वहां आने लगे।

एक दिन स्वामीजी अपने तम्बू में बैठे थे कि वहां परमहंस आनन्दवन दण्ड-कमण्डल लिये अपने दस शिष्यों के साथ पधारे। उन्हें देखकर स्वामीजी उठ खड़े हुए और सम्मानपूर्वक उन्हें अन्दर लाकर आसन पर बैठाया। फिर दोनों में द्वैताद्वैत पर वाद-विवाद आरम्भ हो गया। ग्यारह बजे स्वामीजी ने परमहंसजी से भोजन का निवेदन किया, परन्तु परमहंसजी ने यह कहकर उसे अस्वीकार कर दिया कि वे बिना निर्णय किये भोजन ग्रहण नहीं करेंगे। तब स्वामीजी ने चारों वेदों और अन्य सम्बन्धित ग्रन्थों से अपने पक्ष की पुष्टि में प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किये, जिससे परमहंसजी के सभी संशय दूर हो गये। यह वाद-विवाद दो बजे तक चलता रहा। परमहंसजी ने उठकर अपने शिष्यों से कहा—'मैंने दयानन्द के द्वैतवाद को स्वीकार कर लिया है। आज इनकी युक्तियों और प्रमाण की आंधी ने मेरे अहं-ब्रह्मवाद को तोड़ दिया है। तुम्हें भी दयानन्द के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना चाहिए।' तत्पश्चात् परमहंसजी स्वामीजी के सत्संग में आने लगे।

स्वामीजी हरिद्वार में कुम्भ में प्रचार कर देहरादून पधारे। देहरादून में स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। उन्हें अतिसार का रोग बहुत तंग कर रहा था। यहां आने पर दो-तीन दिन विश्राम करने के बाद अतिसार में कमी हुई

और फिर स्वामीजी ने व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। यहां भी मौलवी और पादरी शास्त्रार्थ करके स्वामीजी को पराजित करना चाहते थे, परन्तु वे सफल न हो सके। देहरादून में स्वामीजी एक फूस के बंगले में रहते थे। एक दिन कुछ मुसलमानों ने चिढ़कर स्वामीजी के फूस के बंगले में आग लगाने का प्रयास किया, परन्तु कृपाराम और भीमसेन आदि की बुद्धिमत्ता के कारण वे अपने प्रसास में सफल न हो सके।

यहीं स्वामीजी को उनके अमरीका निवासी शिष्य कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्सकी का सहारनपुर से तार मिला। इस पर स्वामीजी ने तत्काल चलने का निश्चय कर लिया। स्वामीजी 30 अप्रैल, सन् 1879 को मेलकार्ट द्वारा वहां से चले गये। उनके जाने के पश्चात् 29 जून, 1879 को देहरादून में आर्यसमाज की स्थापना हुई।

सहारनपुर पहुंचकर स्वामीजी दो दिन वहां रहकर कर्नल साहब और मैडम के साथ मेरठ चले गये। मेरठ के आर्य लोगों ने स्वामीजी को एक कोठी में और अमरीका निवासी अतिथियों को एक दूसरे बंगले में ठहराया। यहां स्वामीजी के व्याख्यानों के साथ-साथ कर्नल साहब और मैडम के भी व्याख्यान हुए, जिसमें उन्होंने ईसाई-धर्म की त्रुटियों को प्रदर्शित किया। कुछ दिन मेरठ में रहकर ये लोग स्वामीजी से आज्ञा लेकर बम्बई चले गये।

मेरठ से स्वामीजी अलीगढ़ पहुंचे। चूंकि स्वामीजी का स्वास्थ्य पहले की भांति ही बिगड़ा हुआ था, इसलिए तीन दिन वहां रहकर ठाकुर भोपालसिंह और मुन्नासिंह के साथ छलेसर चले गये। वहां बहुत सावधानी से स्वामीजी की चिकित्सा होती रही। अच्छी प्रकार आरोग्य लाभ करके स्वामीजी वहां से मुरादाबाद की ओर चले गये।

मुरादाबाद में स्वामीजी राजा जयकिशनदास साहब बहादुर के बंगले में ठहरे। यहां भी स्वामीजी ने अपने व्याख्यान दिये। एक दिन मिस्टर स्पीडिंग साहब कलेक्टर के निवेदन पर स्वामीजी ने राजनीति पर व्याख्यान दिया। लोगों को बुलाने का प्रबन्ध स्वयं साहब बहादुर ने किया था और एक प्रकार का टिकट जारी किया था, ताकि बिना टिकट कोई व्यक्ति अन्दर न जा सके। समस्त प्रतिष्ठित अंग्रेज, न्यायाधीश, वकील, रईस और न्यायालय के कर्मचारी बुलाये गये। व्याख्यान कई घण्टों तक चला। व्याख्यान में स्वामीजी ने राजा और प्रजा-सम्बन्धी कर्मों का उपदेश दिया और आपस के कर्तव्य अच्छी

प्रकार चित्त पर अंकित किये। व्याख्यान की समाप्ति पर साहब कलेक्टर बहादुर ने खड़े होकर स्वामीजी की बड़ी प्रशंसा की और कहा—'जैसा स्वामीजी ने इस समय कहा है, वह सब सही कहा है। यदि इस प्रकार का व्यवहार प्रजा और राजा करते, तो विद्रोह के दिनों में जितने कष्ट और दुःख राजा और प्रजा ने उठाये, कदापि न उठाने पड़ते।'

इसके पश्चात् बाबू काली प्रसन्न वकील, किसी से अंग्रेजी में बातचीत करने लगे। स्वामीजी ने रोका और कहा कि सभा में बैठकर ऐसी भाषा में बातचीत करना, जो साधारण लोग न समझ सकें, धर्मविरुद्ध और चोरी की बात है। आपने अंग्रेजी जानने का अभिमान किया। यद्यपि आपसे अधिक अंग्रेजी जानने वाले अंग्रेज यहां उपस्थित हैं। यदि मुझसे छिपाकर बातचीत की, तो यहां ऐसे बहुत-से लोग उपस्थित हैं, जो मुझे आपकी अंग्रेजी समझा सकते हैं। यदि इसके बदले मैं संस्कृत बोलूं, तो कहां जाओगे और किससे पूछोगे? यह सुनकर वकील महोदय बहुत लज्जित हुए।

स्वामीजी अपनी गलती या भूल को बहुत जल्दी स्वीकार कर लेते थे। एक दिन एक पण्डित स्वामीजी से संस्कृत में बात कर रहा था। अचानक स्वामीजी के मुख से एक शब्द अशुद्ध निकल गया। उसने आक्षेप किया, स्वामीजी ने तुरन्त ही यह स्वीकार कर लिया कि हां, यह अशुद्धि भूल से मेरे मुख से निकल गयी है।

एक दिन मुंशी इन्द्रमणि और स्वामीजी में इस बात पर विवाद हुआ कि समाजों में 'सलाम' के स्थान पर क्या शब्द नियत किया जाये। स्वामीजी कहते थे 'नमस्ते' कहना चाहिए और मुंशी इन्द्रमणि कहते थे कि 'परमात्मा जयते' कहना चाहिए। मुंशीजी ने स्वामीजी से कहा—'स्वामीजी! हमने पहले 'जयगोपाल' और बाद में 'परमात्मा जयते' प्रचलित किया। इस पर लोगों ने बहुत हंसी उड़ायी। अब एक नया 'नमस्ते' सुनकर तो लोग और भड़केंगे। इसके अतिरिक्त परमेश्वर का नाम जिस शब्द में आये, उसे कहना चाहिए। परमात्मा जयते कहना और बड़ों के चरण स्पर्श करना अधिक उचित रहेगा।' स्वामीजी ने कहा—'मुंशीजी! बड़ा किसे कहते हैं? जिस मनुष्य ने यह अभिमान किया कि मैं बड़ा हूं, तो उसमें अभिमान आ गया और उसके बड़प्पन में दोष लग गया। नमस्ते का अर्थ मान और सत्कार का है, इस कारण राजा-प्रजा दोनों को आपस में नमस्ते कहना ठीक है। जब कोई व्यक्ति हमारे

घर आता है, तो सम्मानित को देखकर उसके सत्कार और छोटे को देखकर उसके आतिथ्य का तुरन्त ध्यान आता है। फिर बताइये कि ऐसे बवसर पर परमेश्वर के नाम का क्या सम्बन्ध है? 'नमस्ते' शब्द वेदों में भी आया है। हम यजुर्वेद के बहुत-से प्रमाण दे सकते हैं। आप 'परमात्मा जयते' का किसी प्राचीन ग्रन्थ से प्रमाण नहीं दे सकते।'

तत्पश्चात् स्वामीजी 30 जुलाई, 1879 को रेल द्वारा बदायूं गये। मई में ही बदायूं में 'आर्यसमाज' की स्थापना हो चुकी थी। बदायूं में स्वामीजी को साहू गंगाराम के बाग में ठहराया गया। 14 अगस्त, सन् 1879 तक स्वामीजी ने बदायूं में निवास किया, फिर वे बरेली चले गये।

बरेली में स्वामीजी ला० लक्ष्मीनारायण कोषाध्यक्ष के बेगम बाग में ठहरे। यहां भी उन्होंने कई व्याख्यान दिये। एक व्याख्यान में पादरी स्काट, एडवर्डस कमिश्नर, रीड कलेक्टर अन्य अंग्रेजों सहित उपस्थित थे। स्वामीजी ने हिन्दुओं में प्रचलित अन्धविश्वास की आलोचना की। उन्होंने पौराणिक असम्भव और अचारभ्रष्ट कथाओं का खण्डन किया। उन्होंने कहा कि पौराणिकों के अनुसार हनुमान ने बाल्यवस्था में सूर्य को मुंह में रख लिया था, कृष्ण ने पहाड़ उठा लिया था और रावण के दस मुख थे। यह सब बातें हास्यास्पद हैं। तत्पश्चात् स्वामीजी ने पंचकुमारियों की कल्पना पर कटाक्ष किया और कहा कि पौराणिकों ने यह कहा है कि द्रौपदी के पांच पति थे। यह कहते हुए उन्हें तनिक भी लज्जा नहीं आयी। वहां उपस्थित सभी लोग स्वामीजी की हास्य रस से भरी हुई पौराणिक कथाओं का आनन्द लूट रहे थे। तत्पश्चात् स्वामीजी ने कहा कि अब मैं अन्य मतावलम्बियों के विषय में बताता हूं। मुसलमान लोगों का कहना है कि पैगम्बर ने चांद के दो टुकड़े किये और ईसाई लोगों का कहना है कि कुमारी ने पुत्र को जन्म दिया। इसका सारा दोष वे लोग सर्वस्व परमेश्वर पर मड़ते हैं और ऐसा करते हुए उन्हें तनिक भी लज्जा नहीं आती। स्वामीजी बहुत देर तक ईसाई मत का खण्डन करते रहे, जिसे सुनकर कमिश्नर और कलेक्टर गुस्से से आग-बबूला होते रहे।

अगले दिन कमिश्नर ने लाला लक्ष्मीनारायण को बुलाकर कहा कि यदि स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में थोड़ी नर्मी नहीं बरती, तो उनके व्याख्यान बन्द करा दिये जायेंगे। हम ईसाई लोग सभ्य हैं, वाद-विवाद से नहीं घबराते, परन्तु हिन्दू-मुसलमान बहुत उद्दण्ड हैं। वे अपने मतों की बुराई सुनकर चुप

नहीं बैठेंगे। अब लाला लक्ष्मीनारायण यह बात स्वामीजी को कहने में हिचकिचाने लगे। स्वामीजी के सामने जाकर भी वह उनसे कुछ न बोल सके। तब स्वामीजी ने हंसकर उनसे कहा—'भाई! क्यों मेरा इतना समय नष्ट करते हो। सीधे से कहो ना कि साहब ने बुलाकर कहा है कि तुम्हारा पण्डित कड़ा बोलता है, व्याख्यान बन्द हो जायेंगे।' इतना सुनकर वहां उपस्थित एक सज्जन ने कहा—'देखा! यह कोई अवतार हैं, जो मन की बात जान लेते हैं।'

पादरी स्काट और स्वामीजी की आपस में बड़ी प्रीति है। यहां स्वामीजी का पादरी स्काट के साथ कई दिनों तक संवाद भी हुआ, जो लाला लक्ष्मीनारायण की उपस्थिति में हुआ। इसमें उत्तर-प्रत्युत्तर लिखकर दिये गये। इन संवादों के विषय थे—पुनर्जन्म, क्या ईश्वर देह धारण करता है?, ईश्वर पाप को क्षमा भी करता है।

बरेली में धर्म-प्रचार करने के बाद स्वामीजी शाहजहांपुर पधारे और यहां उन्होंने बंगला खजांची साहब में निवास किया। यहां भी उन्होंने अनेक व्याख्यान दिये। एक व्याख्यान में स्वामीजी ने सच्चे धर्म के विषय में बताते हुए कहा—'मनुष्य का कर्तव्य ही उसका सच्चा धर्म है। जिसके विषय में सारे समझदार और विद्वान् लोग एकमत हों, वही सच्चा धर्म कहलाता है। वेदों में इसी धर्म की शिक्षा दी गयी है। यह बहुत शोक का विषय है कि लोग केवल खान-पान, शौच-स्नान, वेशभूषा और उठने-बैठने आदि बाहरी आडम्बरों को ही धर्म मानते हैं। इन्हें तो अपने-अपने देश की प्रथाएं और रीतियां कहा जा सकता है। एक निराकार और सर्वव्यापक परमेश्वर में अटल विश्वास और केवल उसी की उपासना करना, जैसा भाव और ज्ञान भीतर हो, उसी को वाणी से प्रदर्शित करना और उसी के अनुसार आचरण करना, जितेन्द्रिय रहना, किसी के अधिकार और वस्तु को ना छीनना, निर्बलों और दीनों की सहायता करना, यही मानव-धर्म है।'

शाहजहांपुर से स्वामीजी लखनऊ से होते हुए फ़र्रूख़ाबाद पहुंचे। यहां स्वामीजी कालीचरण की वाटिका में ठहरे। यहां भी स्वामीजी प्रतिदिन व्याख्यान देते रहे। जिले के शासक, अधिकारीगण, मुहल्ले वाले, रईस, साहूकार आदि हजारों मनुष्यों की भीड़भाड़ रही। स्वामीजी ने एक व्याख्यान में गोरक्षा पर बल दिया। उन्होंने कहा कि आजकल के प्रशासन में गाय-बैल आदि मारे जाते हैं, इससे देश के रहने वालों की बड़ी हानी होती है। इसलिए हम सबको

गो-वध बन्द कर देना चाहिए।

यहां के पौराणिक पण्डितों ने बहुत-से प्रश्न लिखकर स्वामीजी के पास भेजे। स्वामीजी ने उनके उत्तर तुरन्त दिये।

एक दिन लाला कालीचरण के बाग में छत के ऊपर स्वामीजी बहुत-से लोगों के साथ बैठे हुए थे। तभी वहां कुछ स्त्रियां आयीं और स्वामीजी को नमस्ते करके बैठ गयीं। एक स्त्री की गोद में एक बच्चा था। स्वामीजी ने उस स्त्री से उस बच्चे का नाम पूछा। स्त्री ने उसका नाम भीमा बताया। स्वामीजी ने कहा—'यह नाम अच्छा नहीं। इसका नाम 'भूराज' रखो। 'भू' का अर्थ है पृथ्वी और राज का अर्थ है 'प्रकाश'। इसलिए जो पृथ्वी पर प्रकाशमान है, उसका नाम 'भूराज' होना चाहिए।' यह नाम सुनकर वह स्त्री और वहां उपस्थित सभी लोग प्रसन्न हो गये। उस स्त्री के साथ उसकी दो बेटियां भी आयीं थीं। उन्हें देखकर स्वामीजी ने कहा कि पहले इन लड़कियों को विद्या पढ़ाना। जब विद्या पढ़ चुकें, तब इनका विवाह करना। विवाह में शीघ्रता मत करना।

एक दिन स्वामीजी व्याख्यान के लिए घोड़ागाड़ी पर चढ़कर आर्यसमाज के मकान की ओर जा रहे थे। एक कुत्ता बड़े जोर-से भौंकता हुआ घोड़े के पीछे दौड़ा और थोड़ी दूर चलकर थककर बैठ गया। स्वामीजी ने अपने समीप बैठे व्यक्ति से कहा—'इसका इतना ही सामर्थ्य था। घोड़े के बराबर यह किस प्रकार आ सकता था? इसी प्रकार कपोलकल्पित ग्रन्थ मानने वाले पोप लोगों का सामर्थ्य है, वे भी प्राचीन वेदमत मानने वालों के सम्मुख शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हो जाते हैं।'

यहां से स्वामीजी 8 अक्टूबर सन् 1879 को कानपुर पहुंचे। तत्पश्चात् स्वामीजी प्रयाग से होते हुए मिर्जापुर पहुंचे। यहां उन्होंने सेठ रामरतनजी के बाग में निवास किया। शरीर अस्वस्थ होने के बावजूद स्वामीजी परोपकार के कार्यों में लगे रहे। इसी बीच दानापुर से बाबू मक्खनलाल स्वामीजी को लेने के लिए मिर्जापुर आये। बाबू मक्खनलाल जब स्वामीजी को लेकर दानापुर पहुंचे, तो वहां के लोग स्वामीजी के दर्शनों के लिए स्टेशन पर ही पहुंच गये। भक्तों ने उन्हें श्रद्धापूर्वक लाकर जोन्स के बंगले में ठहराया।

यहां भी पौराणिकों और मुसलमानों ने स्वामीजी को कष्ट पहुंचाने का प्रयत्न किया। उन्होंने अलीगढ़ से चतुर्भुज पण्डित को स्वामीजी से शास्त्रार्थ

करने के लिए बुलाया। यह पण्डित अपने व्याख्यानों में स्वामीजी के विरुद्ध बहुत विष उगलता था, परन्तु स्वामीजी के सामने आने से डरता था। एक दिन वह सन्ध्या के समय कुंजबिहारी साहूकार के घर पर आकर बैठ गया और स्वामीजी को कहला भेजा कि मैं यहां आपसे शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार बैठा हूं, आप व्याख्यान समाप्त करने के बाद यहां आ जाइये। स्वामीजी के भक्तों ने उन्हें वहां जाने से रोका, परन्तु स्वामीजी नहीं रुके और वहां चल दिये। उनके भक्तजन भी उनके साथ हो लिये। वहां पहुंचकर उन्होंने देखा कि कुंजबिहारी-भवन का आंगन पौराणियों और मुसलमानों से भरा है और चतुर्भुज का कहीं भी पता नहीं है। चतुर्भुज बहुत चतुर था, वह धर्म-सभा के मन्त्री को कुछ सिखा-पढ़ाकर वहां से चला गया था। स्वामीजी द्वारा यह पूछे जाने पर कि चतुर्भुज कहां है? धर्म-सभा का मन्त्री अकड़कर बोला—'पण्डितजी तो आपका मुख देखना भी पाप समझते हैं। आपको जो कुछ कहना है मुझसे कहिए।' स्वामीजी ने कहा—'यदि मेरा मुख देखने से वे पापी हो जायेंगे, तो हमारे बीच में परदा डलवा दीजिये, परन्तु उनकी मुझसे बातचीत अवश्य कराइये।' स्वामीजी ने अभी इतना कहा ही था कि किसी ने वहां का दीपक बुझा दिया। अंधेरे में चारों ओर से हंसी की आवाजें आने लगीं। स्वामीजी और उनके साथियों के समीप ही कुछ ढेले आकर गिरे। स्वामीजी के साथियों ने उन्हें वहां से सकुशल निकाला।

जब उपद्रवियों ने देखा कि स्वामीजी तो सकुशल निकल आये हैं, तो उन्होंने फिर से उन पर आक्रमण करने की ठानी। जब स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे, तो एक काला-कलूटा और दुबला-पतला आदमी स्वामीजी के पास आया और थैले को उनके ऊपर फेंककर वहां से भाग गया। थैले में एक विषधर काला सांप निकला। वह सांप जैसे ही स्वामीजी के पैर से लिपटने लगा, वैसे ही स्वामीजी ने फुर्ती से उसके फन पर अपनी एड़ी रख दी और उसे रगड़ते हुए बोले—'जिनके देवता पैरों तले कुचले जाते हों, उनकी दुर्गति का क्या ठिकाना।'

एक दिन जोन्स साहब स्वामीजी से मिलने आये। देर तक बातें होती रहीं। अन्त में जोन्स साहब ने स्वामीजी से पूछा कि हिन्दू लोग मूर्तिपूजा क्यों करते हैं? स्वामीजी ने कहा—'यह मूर्तिपूजा हिन्दुओं का धर्म नहीं है; क्योंकि उनके सत्याशास्त्रों में इसका वर्णन नहीं। ऐसा लगता है कि लोग अपने पूर्वजों

की मृत्यु के पश्चात् उनके चित्र बनाकर अपने पास रखने लगे और इसी प्रकार समय व्यतीत होने पर प्रेम की दृष्टि से उनकी पूजा आरम्भ की, जैसे कि आप लोगों में बहुत-से लोग ईसा व मरियम का क्रास और मसीह के शिष्यों का चित्र या मूर्ति बनाकर पूजते हैं। अज्ञान की ये बातें दोनों पक्षों में समान हैं।' स्वामीजी की बातें सुनकर जोन्स साहब बहुत प्रसन्न हुए और उनसे हाथ मिलाकर वहां से चले गये।

फिर स्वामीजी दानापुर से बनारस गये और वहां महाराजा विजयनगर के आनन्द बाग में निवास किया। तत्पश्चात् स्वामीजी लखनऊ होते हुए अन्तिम बार फ़र्रूख़ाबाद पधारे। यहां पर स्वामीजी ने धर्मानुकूल कार्य चलने के अर्थ अन्तरंग सभा के ऊपर 'मीमांसक सभा' स्थापित की। यहां पर उन्होंने बहुत-से व्याख्यान दिये। एक व्याख्यान में उन्होंने कहा कि लोग जो कहते हैं कि पृथ्वी 'शेष' पर स्थित है, यदि वे सोचें, तो उनको शेष के लिए कोई अन्य आधार खोजना पड़ेगा और उसके लिए कोई अन्य। वास्तव में, यह शब्द तो ठीक है, परन्तु लोग इसका अर्थ नहीं जानते और भूल से लोगों ने इसका अर्थ सांप जान लिया है, अन्यथा वास्तव में ये सब तो नाशवान् हैं, सबमें से शेष परमेश्वर है और पृथ्वी उसके आधार पर स्थित है।

30 जून, सन् 1880 को स्वामीजी फ़र्रूख़ाबाद से चलकर 1 जुलाई, सन् 1880 को मैनपुरी पहुंचे और थानसिंह सोहिया के बाग में ठहरे। स्वामीजी के आगमन का समाचार सुनकर हजारों नगरनिवासी उनके दर्शनों के लिए आये। यहां भी स्वामीजी ने अनेक व्याख्यान दिये। तत्पश्चात् 11 जुलाई, सन् 1880 को यहां 'आर्यसमाज' की स्थापना की गयी।

इसी बीच 8 जुलाई, सन् 1880 को स्वामीजी मेरठ समाज की प्रार्थना पर मेरठ पधारे और वहां मुंशी रामशणदास की कोठी में निवास किया। उनके आगमन का समाचार सुनते ही विद्याप्रेमी सज्जनों के मन हर्ष से भर गये, परन्तु पोप और उनके शिष्यों का हृदय ईर्ष्या से जल गया। यहां से स्वामीजी मुजफ्फरनगर चले गये। वहां से वे पुन: आर्यसमाज मेरठ के दूसरे वार्षिकोत्सव पर मेरठ पधारे। यह उत्सव बहुत सफल रहा। फिर स्वामीजी देहरादून के लिए चल पड़े। देहरादून पहुंचकर उन्होंने स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थ के लिए विज्ञापन लगवाये। सत्य से प्रेम करने वाले लोगों ने उनके पास आकर उनके उपदेशों से लाभ उठाया और अधर्मी विज्ञापन को देखकर बेचैन हो उठे।

पौराणिक मत वाले सज्जनों ने आपस में मिलकर शास्त्रार्थ विषयक कुछ चर्चा तो की, परन्तु वे स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं जुटा सके।

फिर स्वामीजी देहरादून से 20 नवम्बर, सन् 1880 को चलकर 21 नवम्बर, 1880 को मेरठ पहुंचे। वहां स्वामीजी 3-4 दिन ठहरकर आगरा पहुंचे और ला० गिरधारीलालजी भागर्व के यहां निवास किया। यहां पर स्वामीजी के व्याख्यानों का प्रबन्ध 'मुफीदे आम' पाठशाला में किया गया। स्वामीजी के व्याख्यानों को सुनने के लिए श्रोताओं की भीड़ उमड़ पड़ी।

आगरा में एक बार स्वामीजी सेंट पीटर्सन चर्च देखने के लिए गये। जब वे अन्दर जाने लगे, तो एक ईसाई ने कहा कि आप पगड़ी उतार लीजिये। स्वामीजी ने कहा—'हमारे नियम के अनुसार पगड़ी पहनना सम्मान में सम्मिलित है। यदि तुम चाहो, तो हम जूता उतारकर जा सकते हैं।' उसने कहा—'नहीं, आपको जूता और पगड़ी दोनों उतारकर जाना चाहिए।' स्वामीजी बहुत स्वाभिमानी थे। उन्होंने पगड़ी उतारकर अन्दर जाना स्वीकार नहीं किया और केवल बाहर के बरामदे से उनकी मूर्तियां देखकर चले आये।

आगरा में ही स्वामीजी ने 'गोकरुणानिधि' लिखी और कुछ अंग्रेजी पढ़ी। उनके व्याख्यान का सारांश बाल्यावस्था के विवाह को रोकना, ब्रह्मचर्य का प्रचार, जीव रक्षा करना, देशी शिल्प और कला की उन्नति और सत्यधर्म की ओर अधिक विचार करना था। यहां से स्वामीजी भरतपुर चले गये। वहां से जयपुर आदि स्थानों पर प्रचार करते हुए अजमेर पधारे और सेठ फतहमल के बाग में ठहरे।

अजमेर में पण्डित लेखरामजी ने 17 मई, 1881 को स्वामीजी के दर्शन किये और उनके सत्योपदेशों से अपनी समस्त शंकाओं का निवारण किया। उन्होंने स्वामीजी से पूछा—'स्वामीजी! आकाश भी व्यापक है और ब्रह्म भी, दो व्यापक किस प्रकार इकट्ठे हो सकते हैं?' स्वामीजी ने एक पत्थर उठाकर कहा—'इसमें अग्नि व्यापक है या नहीं?' पण्डितजी ने कहा—'हां, व्यापक है।' फिर स्वामीजी ने कहा—'मिट्टी है या नहीं?' पण्डितजी के हां कहने पर स्वामीजी ने फिर पूछा—'जल, आकाश, वायु, परमात्मा व्यापक हैं?' पण्डितजी ने कहा—'हां।' स्वामीजी ने कहा—'देखा! इतनी सारी चीजें इसमें व्यापक हैं। वास्तव में, जो जिससे सूक्ष्म होती है, वह उसमें व्यापक हो सकती है। चूंकि ब्रह्म सबसे अतिसूक्ष्म है, इसलिए वह सर्वव्यापक है।' स्वामीजी का

कथन सुनकर लेखरामजी का चित्त शान्त हो गया। स्वामीजी ने उनसे कहा कि तुम 25 वर्ष से पूर्व विवाह न करना। फिर पण्डित लेखरामजी ने स्वामीजी से कहा—'स्वामीजी! आप मुझे अपना कोई चिह्न प्रदान करें।' स्वामीजी ने उन्हें अष्टाध्यायी की पुस्तक प्रदान की। तत्पश्चात् पण्डितजी उनके चरण स्पर्श करके वहां से चले गये।

अजमेर में आर्यों पर सदुपदेशों की वर्षा करके स्वामीजी राव साहब मसूदा के निमन्त्रण पर 23 जून, सन् 1881 को मसूदा चले गये। मसूदा में स्वामीजी ने जैनियों के महात्मा सिद्धकरण के साथ धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद किया, जिसमें सिद्धकरण की पराजय हुई। परिणामस्वरूप, जैनियों ने आकर स्वामीजी से प्रार्थना की—'स्वामीजी! आपने हमें जैन मत के वास्तविक स्वरूप का बोध कराकर हमारे नेत्र खोल दिये हैं। कृपया आप हमें आर्यधर्म में दीक्षित कर लीजिये।' स्वामीजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए एक वृहद् यज्ञ की व्यवस्था की और उसमें तैंतीस प्रतिष्ठित जैनियों से यज्ञोपवीत धारण करवाकर उन्हें वैदिक धर्म की दीक्षा दी।

तत्पश्चात् स्वामीजी 30 दिसम्बर, सन् 1881 को फिर बम्बई पधारे। स्वामीजी के स्वागत के लिए स्टेशन पर कर्नल एच०एस० आल्काट साहब, प्रधान थियोसोफिकल सोसाइटी, आर्यसमाज के कई सम्मानित सदस्य उपस्थित थे। स्वामीजी ने समुद्र तट पर गोशाला के समीप स्थित एक मकान में निवास किया। 20 मार्च सन् 1882 को बम्बई की आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव था, जो बड़ी धूमधाम से मनाया गया। चूंकि उस समय स्वामीजी भी वहां उपस्थित थे, इसलिए इस उत्सव में चार चांद लग गये। वहां स्वामीजी ने संस्कृत में एक व्याख्यान दिया, जिसमें उन्होंने बताया कि सुधार की जो व्यवस्था आज प्रचलित है, उससे मनु आदि द्वारा विहित सुधार की व्यवस्था अच्छी थी। उन्होंने बताया कि चोर आदि को जो दण्ड मनु आदि ने विहित किया है, उसके कारण चोर चोरी करने से सदा डरता था और आजकल के नियम के अनुसार तो चोरी करने में चोर को आनन्द आता है। उसको अपने घर की अपेक्षा अच्छा भोजन और अच्छा घर मिलता है।

स्वामीजी की उपस्थिति में ही बम्बई में नियम और उपनियमों के संशोधन के विषय में विचार उत्पन्न होने पर 8 अप्रैल, 1882 की रात को स्वामीजी की उपस्थिति में 'आर्यसमाज' की अन्तरंग सभा हुई। इस सभा में बहुत देर तक

विचार होने के बाद यह निश्चय किया गया कि जो नियमोपनियम स्वामीजी की सम्मति से लाहौर आर्यसमाज ने सब स्थानों के आर्यसमाजों के लिए छपवाकर प्रसिद्ध किये हैं, उन्हें बम्बई आर्यसमाज अंगीकार करे और इस स्वीकृति के निमित्त आर्यसमाज की साधारण सभा का अधिवेशन किया जाये।

इस निर्णय के अनुसार 15 अप्रैल, सन् 1882 को बालकेश्वर में महापण्डित की उपस्थिति में साधारण सभा का अधिवेशन किया गया और उसमें सर्वानुमति से उपरोक्त प्रस्ताव पारित किया गया। उस प्रस्ताव के साथ यह भी निश्चय किया गया कि बम्बई की स्थानीय 'समाज' के लिए उनका देश काल के अनुकूल होना आवश्यक है।

जून, सन् 1882 तक बम्बई में रहकर स्वामीजी खंडवा चले गये। वहां स्वामीजी भाऊ टाटाजी के बगीचे में ठहरे। खंडवा से स्वामीजी इन्दौर गये। वहां एक दिन स्टेशन के डाक बंगले पर ठहरकर रतलाम होते हुए उदयपुर चले गये। तत्पश्चात् स्वामीजी 24 जुलाई, सन् 1882 को वहां से चल दिये और 25 जुलाई को चित्तौड़गढ़ पधारे।

❑❑

विभिन्न रियासतों में धर्म-प्रचार

15 दिसम्बर, सन् 1878 को स्वामीजी जयपुर पधारे। वहां उन्होंने सांगानेर दरवाजे के बाहर ढड्डे के बाग में निवास किया। वहां भी सायंकाल को लोग उनके निवास स्थान पर आते और उनसे प्रश्न पूछकर अपनी शंकाओं का निवारण करते थे। तीन दिन तक ठाकुर लक्ष्मणसिंहजी की हवेली पर वेद आदि सत्यशास्त्रों के विषयों पर व्याख्यान हुए। जयपुर में भी पोप लोगों ने एक विचित्र लीला की कि विद्यार्थियों को बुलाया और उनको प्रश्न लिख-लिखकर दिये और कहा कि जाओ स्वामीजी से उत्तर मांगो। जब वे विद्यार्थी स्वामीजी के पास उत्तर मांगने गये, तो स्वामीजी ने कहा—'यदि ये प्रश्न तुम्हारे हैं, तो हम उत्तर नहीं देंगे। हमारे शिष्यों से उनके उत्तर पूछ लो। यदि वहां शंका-निवारण न हो, तो हमारे पास आना। यदि यह प्रश्न तुम्हारे गुरुओं के हैं, तो हम उत्तर देंगे।'

2 दिसम्बर, सन् 1878 को स्वामीजी मसूदा गये और वहां नगर के बाहर रामबाग में निवास किया। यहां भी स्वामीजी ने दो-तीन व्याख्यान दिये और साथ ही अपने निवासस्थान पर प्रतिदिन उपदेश देते रहे।

10 मार्च, सन् 1881 को स्वामीजी भरतपुर गये और वहां रेलघर के समीप एक रईस के बाग में ठहरे। पूरे दस दिन तक वहां उपदेश करते रहे। भरतपुर से स्वामीजी पुनः जयपुर गये और गंगापोल दरवाजे के बाहर बदनपुरा में अचरौल वाले ठाकुरों के बाग में निवास किया। उन्होंने ठाकुर साहब की हवेली में सृष्टि विषय पर एक व्याख्यान दिया। 23 जून, सन् 1881 को स्वामीजी पुनः मसूदा पधारे और नगर के पश्चिम की ओर रामबाग की बाहरदरी में डेरा किया। फिर महलों में निम्नलिखित विषयों पर व्याख्यान दिये—1. धर्म, 2. राजनीति, 3. पुनर्विवाह, 4. सत्यशास्त्र और 5. मोक्ष आदि।

यहां स्वामीजी ने दो यज्ञ कराये। पहला यज्ञ सावन सुदि पूर्णमासी, संवत्

1938 को हुआ। जहां पर स्वामीजी निवास करते थे, उसी पहाड़ी पर यज्ञशाला स्थापित करके हवनकुण्ड बनाया गया। इस यज्ञ में लगभग 40 हवनकर्ता थे और 32 यज्ञोपवीत लेने वाले थे। दूसरा यज्ञ भादो बदि द्वितीया, संवत् 1938 को हुआ। इसमें भी यज्ञोपवीत लेने वालों को यज्ञकुण्ड के आसपास बैठाकर वेदोक्त मन्त्रों से आहुतियां दिलाकर यज्ञोपवीत धारण करा दिया गया और गायत्री मन्त्र का उपदेश देकर, फिर एक-एक से अलग-अलग आहुतियां दिलाई गयीं।

स्वामीजी रायपुर राज्य की ओर से निमन्त्रण आने पर रायपुर चले गये। रायपुर में स्वामीजी का शुभागमन सुनकर ठाकुर हरिसिंह अपने बन्धुजन और अमीरों सहित दर्शन करने के लिए आये। स्वर्ण-मुद्रा और पांच रुपये भेंट करके उनके चरण छूकर बैठ गये। स्वामीजी ने हरिसिंह को राजा के कर्तव्यों और प्रजा-पालन पर उपदेश दिया। रायपुर राज्य के कुछ मुसलमान कर्मचारी कब्र-पूजा की आलोचना सुनकर स्वामीजी से रुष्ट हो गये थे। राजा के दबाव के कारण वे स्वयं तो कुछ न बोल सके, परन्तु उन्होंने एक काजी को लाकर स्वामीजी के सामने कर दिया। उससे बातचीत के दौरान स्वामीजी ने कुरान धरती पर रख दी, जिसे देखकर काजी आग-बबूला हो गया और बोला—'आपने ये क्या अनर्थ कर दिया, कुरान शरीफ को फर्श पर रख दिया।' स्वामीजी ने कहा—'इसमें क्रोध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। पहले आप यह सोचिये कि कागज किन पदार्थों से बनता है। मुद्रणालय में छपते समय इन पुस्तकों के पन्ने कहां रखे जाते हैं।' काजी निरुत्तर हो गया। वह रुष्ट हो अपने साथियों सहित वहां से चला गया।

रायपुर से स्वामीजी ब्यावर पधारे। स्वामीजी के वहां पधारने का समाचार सुनकर दल-के-दल लोग उनके दर्शनों के लिए आने लगे। पादरी शूलब्रेड साहब और बाबू बिहारीलाल साहब स्वामीजी के साथ कई दिनों तक धर्म-चर्चा करके आनन्दित होते रहे।

स्वामीजी ब्यावर से मसूदा चले गये और वहां थोड़ा विश्राम करके बनेड़ा गये और वहां जवाड़िया के एक मकान में ठहरे। बनेड़ा के राजा और उनके दोनों राजकुमारों ने स्वामीजी के चरणों में बैठकर उनके उपदेशों का लाभ उठाया। एक दिन राजा ने स्वामीजी से प्रश्न किया—'जीव, आत्मा और परमात्मा क्या है और उनमें क्या भेद है?' स्वामीजी ने उत्तर दिया—'जीव और

आत्मा को तो हम एक ही मानते हैं और परमात्मा परमेश्वर उससे न्यारा है।'

बनेड़ा से स्वामीजी भीलवाड़ा और सोनियाणा होते हुए चित्तौड़ पहुंचे। वहां उन्होंने घमेरी नदी के पश्चिमी तट पर ओंढ़ी के महादेव के मन्दिर में निवास किया। उन दिनों वहां लार्ड रिपन का दरबार होने वाला था, इसलिए उदयपुर राज्य के अन्तर्गत जितने भी राजा और उपराजा, जागीरदार और सरदार थे, वे सब उस दरबार में सम्मिलित होने के लिए चित्तौड़ आये हुए थे। स्वामीजी प्रतिदिन सायंकाल को सत्संग किया करते थे, जिसे सुनने के लिए दरबार में आये हुए सभी राजे आदि आया करते थे और स्वामीजी के दर्शनों एवं उपदेशों से लाभान्वित होते थे।

इसी बीच उदयपुर के महाराणा साहब स्वयं दो बार स्वामीजी के निवासस्थान पर गये और उपदेश सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने साथियों और सरदारों से कहा कि देखो, स्वामीजी जैसे सच्चे और देशहितैषी महात्मा के विषय में दुष्ट लोग क्या-क्या कहा करते हैं और अपनी हठधर्मी से कैसे-कैसे झूठे आरोप उन पर लगया करते हैं। यदि आज उनके दर्शन न होते, तो उनकी ओर से जो सन्देह हमारे हृदयों में विद्यमान थे, वे कभी दूर न होते। महाराणा साहब ने स्वामीजी की रचनाओं में से बहुत-सी पुस्तकें मोल लीं। वेदभाष्य भी मासिक लेना आरम्भ कर दिया। चलते समय स्वामीजी महाराणा साहब से भेंट करने के लिए राज्यस्थान पर गये और नाना प्रकार की बातचीत के पश्चात् विदा हुए। विदा होते समय महाराणा साहब ने पांच सौ रुपये मार्गव्यय के लिए भेंट किये और फिर शीघ्र उदयपुर में दर्शन देने का वचन ले लिया।

चित्तौड़ से चलकर स्वामीजी इन्दौर चले गये और वहां एक सप्ताह निवास कर बम्बई चले गये। तत्पश्चात् स्वामीजी 11 अगस्त, सन् 1882 को उदयपुर पधारे और गुलाब बाग में ठहरे। यहां उन्होंने ईसाइयों और म्लेच्छों का बहुत खण्डन किया और उदयपुर के महाराजा को राजनीति का उपदेश दिया। यहीं पर स्वामीजी ने 27 फरवरी, 1883 को अपना वसीयतनामा लिखकर वहां रियासत में रजिस्ट्री कराया।

❑❑

देहावसान

उदयपुर से विदा होकर स्वामीजी शाहपुर पधारे। यहां उन्होंने एक ब्राह्मण युवक को संन्यास की दीक्षा देकर उसका नाम ईश्वरानन्द रखा। शाहपुर से विदा होकर स्वामीजी अजमेर होते हुए 27 मई, सन् 1883 को पाली रेलवे स्टेशन पर पहुंचे। उस समय जोधपुर तक रेलवे नहीं थी। अतः चारण नवलदान, लाला दामोदरदासजी, सादूलजी जीत मारूत राज की ओर से एक हाथी, तीन ऊंट, तीन रथ, एक सेजगाड़ी और चार सवारों सहित वहां उपस्थित हुए। जब जोधपुर दो ढाई कोस के अन्तर पर था, तब स्वामीजी ने प्रातःकाल की शुद्ध वायु से लाभ उठाने के अभिप्राय से अपने स्वभाव के अनुसार पैदल चलना आरम्भ किया। रियासत की ओर से उनका स्वागत करने के लिए राव राजा जवानसिंहजी आये। उन्होंने स्वामीजी का हार्दिक स्वागत कर उनके चरण स्पर्श किये और उन्हें मियां फैजुल्ला खां के उद्यान में ले जाकर ठहराया। उद्यान के फाटक पर महाराजा प्रतापसिंह ने स्वामीजी का स्वागत किया और उनके ठहरने की पूर्ण व्यवस्था की। राज्य की ओर से चारण नवलदान चार अन्य मनुष्यों सहित सेवा के लिए नियत हुए और स्वामीजी के दुग्ध के लिए एक गाय रखी गयी और 6 सिपाही और एक हवलदार रक्षा के लिए नियत किये गये।

स्वामीजी के जोधपुर पहुंचने के कुछ दिनों बाद जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंहजी दर्शनार्थ पधारे और एक सौ रुपये और पांच मुहरें भेंट करके भूमि पर बैठने लगे। तभी स्वामीजी ने उनसे कुरसी पर बैठने का अनुरोध किया। तब महाराजा ने कहा कि आप हमारे स्वामी हैं और हम आपके सेवक हैं, इसलिए आप ही कुरसी पर बैठें। परन्तु स्वामीजी ने सभ्यतापूर्वक उनका हाथ पकड़कर उनको कुरसी पर बैठा दिया। स्वामीजी ने उन्हें मनुस्मृति के अनुकूल राजधर्म का उपदेश दिया, जिससे महाराजा बहुत प्रसन्न हुए। फिर महाराजा के अनुरोध पर वहां स्वामीजी के उपदेश और व्याख्यान प्रतिदिन

नियमित रूप से होने लगे।

कई पण्डितों को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए कहा गया, परन्तु सभी का यह मानना था कि हम स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हैं। जो कुछ स्वामीजी कहते हैं, वही ठीक है।

महाराजा प्रतापसिंहजी स्वामीजी के पास बहुत आया करते थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी से पूछा—'कोई ऐसा कार्य बतायें, जिससे हमारा मोक्ष हो।' स्वामीजी ने कहा—'और काम तो तुम्हारे मोक्ष के नहीं हैं, परन्तु एक न्याय तुम्हारे हाथ में है। यदि प्रजापालन न्याय से करोगे, तो तुम्हारा मोक्ष हो सकता है।'

स्वामीजी अपने नियमों का दृढ़ता से पालन करते थे। स्वामीजी प्रात: 4 बजे उठते और कुल्ला, दातुन कर थोड़ी-सी सौंफ और दो चार घूंट पानी पीते थे। 5 बजे घूमने चले जाते। किसी वृक्ष के नीचे बैठकर आधा घण्टा योगाभ्यास करते और फिर दो कोस पैदल चलने के बाद अपने निवास को लौट आते। लौटने के बाद पन्द्रह-बीस मिनट कुरसी पर बैठकर वायु सेवन करते। तत्पश्चात् एक गिलास दुग्ध और जल मिलाकर पीते। आठ बजे वेदभाष्य लिखना आरम्भ कर देते। स्वामीजी बोलते थे और दो पण्डित लिखते थे। तीन घण्टे वेदभाष्य का काम करने के उपरान्त स्नान करते और स्नान करने के पश्चात् आधा घण्टा कोठरी बन्द कर अकेले बैठ जाते। बारह बजे भोजन करते। भोजन भी सादा—दूध, सब्जी, दाल, चावल, कभी-कभी खिचड़ी आदि। भोजन केवल एक समय ही करते थे। भोजन के बाद एक पान खाते और फिर आधा-पौना घण्टा लेट जाते। फिर उठकर एक बजे सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि की कापियां—जो छपी हुई आतीं—उनको शोधते। उसी समय वह लोगों की आयी चिट्ठियों के उत्तर भी लिखवाते थे। तीन बजे फिर मुलतानी मिट्टी से स्नान करते। फिर चार बजे व्याख्यान के लिए जाते थे। छह बजे तक व्याख्यान समाप्त करके 6 से 8 बजे तक शंका समाधान करते। रात को दूध पीते और दस बजे सो जाते।

स्वामीजी वहां अपने सत्योपदेश में संलग्न और सब प्रकार के धर्म-प्रचार में व्यस्त थे और निर्भय होकर वैदिक धर्म का प्रकाश करते रहे। तीन बार महाराजा साहब ने स्वामीजी के डेरे पर और तीन बार स्वामीजी को अपने महल में बुलवाकर उनसे बातचीत की। इसी बीच स्वामीजी को विदित हो

गया कि महाराजा साहब ने एक नन्हीं जान नामक वेश्या रखी हुई है और जो कामकाज राज्य का होता है, प्राय: उसकी सम्मति से होता है। एक दिन स्वामीजी जब महल में गये, तो स्वामीजी ने उसे देख लिया। स्वामीजी के आने पर महाराज ने उसे पालकी में बैठाकर भेज दिया। स्वामीजी अपने देश के राजाओं की यह अवस्था देखकर बहुत दुखी हुए और उन्होंने यह उपदेश दिया—'राजपुरुष सिंह के समान हैं और वेश्या कुतिया के समान। सिंहों को कदापि नहीं चाहिए कि वह कुतियाओं से समागम करे। ऐसी कुतियाओं पर आसक्त होना कुत्तों का ही काम है न कि अच्छे मनुष्यों का।'

इस उपदेश से नन्हीं जान बहुत भड़की, उधर चक्रांकितों के खण्डन से मेहता विजयसिंहजी भी बहुत क्रोधित हुए। मेहता विजयसिंहजी ने नन्हीं जान को भड़काया। अब तो स्वामीजी के विरुद्ध इन सब ने षड्यन्त्र रचना आरम्भ कर दिया। वह वेश्या ब्राह्मणों को अधिक मानती थी और बड़ी मूर्तिपूजक थी। इस सबके साथ ही एक कल्लू कहार स्वामीजी का बहुत विश्वास-पात्र सेवक था। एक दिन वह छह-सात सौ रुपये का माल लेकर भाग गया। प्रात:काल होते ही उस चोरी का कोलाहल चारों ओर फैल गया। स्वामीजी पहरे वालों और दारोगा आदि पर जब ताड़ना करते थे, तो ये लोग स्वामीजी के सामने तो हाथ जोड़कर 'जो आज्ञा' ऐसा कहते थे, परन्तु उनकी पीठ पीछे हंसते थे। स्वामीजी का उन सब पर से विश्वास उठ गया।

एक दिन रात्रि के समय किसी ने बहुत धीरे-से जगन्नाथ से कहा—'देखो जगन्नाथ! तुम एक दरिद्र ब्राह्मण हो। यदि तुम हमारा काम करोगे, तो हम तुम्हें मालामाल कर देंगे।' उसने कहा—'मैं यह पाप-कर्म नहीं कर सकूंगा। पकड़ा गया, तो जान से हाथ धोना पड़ेगा और, मेरे बाल-बच्चे भी भूखों मर जायेंगे।' किसी स्त्री ने धीरे-से कहा—'इस कर्म के पाप-दोष के भागी तो हम लोग होंगे। पकड़े जाने का डर तुम दिल से निकाल दो। कल्लू कहार की भांति ही तुम्हारा पता भी किसी को नहीं लगेगा।'

इस रियासत के मनुष्यों पर से विश्वास उठ जाने पर स्वामीजी ने यहां से चले जाने का विचार किया। इतने में आश्विन बदि एकादशी, अर्थात् 29 सितम्बर, सन् 1883 को रात के समय सोने से पूर्व स्वामीजी ने नियमानुसार जगन्नाथ से गरम दूध मंगवाकर पिया। अभी आंख लगने भी नहीं पायी थी कि उदरशूल और जी मिचलाने लगा, जिससे स्वामीजी को वमन हुआ।

स्वामीजी ने तीन बार वमन किया, परन्तु किसी को नहीं जगाया और आप ही जल से कुल्ला करके सो गये। उनका प्रतिदिन का नियम था कि वह प्रात:काल उठकर वन में शुद्ध वायु ग्रहण करने के लिए जाते थे। 30 सितम्बर को वह बहुत देर से उठे और उठते ही उन्हें वमन हुआ। इस पर स्वामीजी को कुछ सन्देह हुआ, तो उन्होंने जल पीकर दूसरा वमन स्वयं कर डाला। फिर उन्होंने घर की शुद्धि के लिए हवन की आज्ञा दी। फिर उदर में शूल होने के कारण उन्होंने अजवायन आदि ली, जिससे उन्हें दस्त हो गये। दस्त होने के बाद भी उनके उदर का शूल कम नहीं हुआ। स्वामीजी की दशा बिगड़ रही थी, तब उनके सेवकों ने डाक्टर सूरजमलजी को बुलाया। उन्होंने वमन बन्द करने की औषधि दी और पूछा कि आपका चित्त कैसा है? स्वामीजी ने कहा—'सारे पेट में अत्यन्त शूल हो रहा है, अब प्यास भी लगी है।' तब डाक्टर साहब ने प्यास बन्द होने की औषधि दी और कहा कि इस रोग का कारण यही है कि इस निर्जल भयंकर प्रदेश के जोधपुर नगर में ऐसे महात्मा का निवास हुआ, नहीं तो यह शूल काहे जमता।

जब स्वामीजी की दशा में सुधार होता नजर नहीं आया, तो डाक्टर अलीमर्दान खां की चिकित्सा आरम्भ की गयी, फिर भी रोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। अब स्वामीजी को 30-40 दस्त प्रतिदिन आने लगे, जिससे उनका शरीर बहुत निर्बल हो गया। मुंह, सिर और माथा छालों से भर गये और स्वामीजी के श्वास इतने बढ़ गये कि प्रतिक्षण उन्हें हिचकियां आने लगीं। इन हिचकियों ने स्वामीजी की शक्ति को बिल्कुल नष्ट कर दिया। अब तो स्वामीजी को बातचीत करने में भी अत्यन्त कष्ट होने लगा। हिचकी, उदरशूल, छालों और दस्तों के कारण स्वामीजी ने अत्यन्त तीव्र कष्ट पाया, परन्तु धन्य हैं स्वामीजी कि इतनी पीड़ा होने पर भी हाय तक नहीं की। 16 दिन तक डाक्टर अलीमर्दान खां ने स्वामीजी की चिकित्सा की।

स्वामीजी ने अपने अस्वस्थ होने का किसी आर्यसमाज को सूचित नहीं किया था। कई दिनों बाद जब अजमेर की आर्यसमाज के एक सदस्य ने राजपूताना गजट में पढ़ा कि महर्षि जोधपुर में किसी भयंकर व्याधि में ग्रस्त हैं, तब उसने और लोगों को यह समाचार बताया। आर्यसमाज ने तुरन्त अपना एक सभासद जोधपुर भेजा। उसने स्वामीजी की दशा देखकर चकित होकर उनसे पूछा—'भगवन्! यह क्या हुआ और अधिक शोक यह है कि आपने

किसी समाज को सूचित नहीं किया।' स्वामीजी ने उत्तर दिया—'यह रोग की दशा को क्या लिखते। यह तो शरीर का धर्म ही है। आप लोगों को इसकी सूचना देकर व्यर्थ कष्ट क्यों देता।'

जब उस सभासद ने आकर अजमेर समाज को सूचित किया, तो उस समय सभी समाजों को तार भेज दिये गये। परिणामस्वरूप, सभी जगह कोलाहल मच गया और चारों ओर से सैकड़ों तार और कई समाज के लोग महाराज का वृत्तान्त जानने के लिए दौड़े। जोधपुर में रोग की निवृत्ति होते न देख, स्वामीजी के भक्तों ने स्वामीजी को आबू ले जाने का प्रस्ताव किया। राज्य की ओर से उसकी समुचित व्यवस्था कर दी गयी।

16 अक्टूबर, सन् 1883 का दिन स्वामीजी को आबू पर्वत पर ले जाने के लिए निश्चित हुआ। 15 अक्टूबर की सन्ध्या को महर्षि को विदा करते हुए महाराजा जोधपुर ने उनके चरण छुए और रुंधे कण्ठ से कहा— 'भगवन्! आप इस दशा में मेरे राज्य से जा रहे हैं, इसका मुझे बहुत दुःख है। परन्तु आपकी यह दशा देखकर मैं कुछ नहीं कह सकता हूं।' इसके बाद उन्होंने स्वामीजी को ढाई हजार रुपये और दो दुशाले भेंट किये।

जब स्वामीजी की पालकी आबू पर्वत पर चढ़ रही थी, तो मार्ग में डाक्टर लक्ष्मणदासजी को उनके दर्शन हुए। उस समय वह अजमेर जा रहे थे, परन्तु स्वामीजी को अधिक रोगी देखकर वे स्वामीजी के साथ हो लिये। आबू पर्वत पर डाक्टर लक्ष्मणदासजी ने उनकी चिकित्सा की, जिससे स्वामीजी की अवस्था में कुछ सुधार हुआ। तभी डाक्टर साहब का तबादला अजमेर में हो गया। वह स्वामीजी को छोड़कर नहीं जाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया, जिसे किसी गुप्त सांठ-गांठ के कारण अस्वीकार कर दिया गया। अब तो डाक्टर साहब को अपने दिल पर पत्थर रखकर अजमेर जाना ही पड़ा। जाते समय डाक्टर लक्ष्मणदासजी स्वामीजी को अजमेर लाने के लिए कह गये।

डाक्टर लक्ष्मणदास के बहुत प्रयासों के बाद भी जब स्वामीजी की दशा में सुधार न हुआ, तो समाज के सदस्यों की सम्मति से एक प्रसिद्ध हकीम पीरजी को बुलाया गया। उसने स्वामीजी की दशा पर अत्यन्त दुःख प्रकट किया और उन्हें औषधि दी।

इसके बाद आर्य सभासदों के अनुरोध और डाक्टर लक्ष्मणदासजी के

अन्तिम कथन पर स्वामीजी 26 अक्टूबर, सन् 1883 को अजमेर के लिए चल पड़े। स्वामीजी के आने की सूचना पाकर बहुत-से लोग स्वामीजी के दर्शनों के लिए पहुंचे। वहां से स्वामीजी को एक कोठी में ले जाया गया, जहां उन्हें पलंग पर लिटा दिया गया। तब स्वामीजी ने कहा कि विशेष गरमी का अनुभव हो रहा है। वहां उपस्थित लोगों ने दरवाजे खोल दिये। स्वामीजी तो गरमी-गरमी कह रहे थे, परन्तु वहां खड़े लोगों को शीत का अनुभव हो रहा था।

अजमेर में फिर से डाक्टर लक्ष्मणदासजी की चिकित्सा आरम्भ हो गयी। डाक्टर बराबर अदल-बदलकर औषधि देते थे, परन्तु तनिक भी लाभ नहीं होता था। अब तो औषधि ने भी अपना प्रभाव दिखाना बन्द कर दिया था, और रोग था कि निरन्तर बढ़ता ही जाता था। 28 अक्टूबर को स्वामीजी ने इच्छा प्रकट की कि हमें मसूदा ले चलो। लोगों ने कहा कि महाराज! इस अवस्था में आपको कैसे ले चलें, जब आपको थोड़ा लाभ होगा, तब हम अवश्य ले चलेंगे। स्वामीजी ने कहा—'मुझे दो दिन में आराम पड़ जायेगा।' ऐसा कहकर वे चुप हो गये।

30 अक्टूबर, सन् 1883, दिवाली के दिन प्रातःकाल सभासदों ने विचार किया कि किसी दूसरे डाक्टर को बुलाना चाहिए। उसी दिन पीर इमाम अली साहब को बुलाया गया। पीर इमाम अली के अनुसार स्वामीजी को विष दिया गया था। तत्पश्चात् वहां के बड़े डाक्टर न्यूटन साहब को बुलाया गया। न्यूटन साहब ने स्वामीजी को देखकर आश्चर्य से कहा कि यह मनुष्य बड़े कद वाला दृढ़, वीर और रोग को सहने वाला है। इसकी आकृति से ही प्रतीत होता है कि यह ऐसे असह्य रोग में है, परन्तु अपने को दुखी नहीं मानता। यही मनुष्य है कि इतना बड़ा रोग होने पर भी अपने को संभाल रहा है और अभी तब जीवित है। डाक्टर लक्ष्मणदासजी ने डाक्टर न्यूटन को कहा कि इनका नाम दयानन्द सरस्वतीजी है। यह सुनकर डाक्टर न्यूटन ने उनके साहस की बहुत प्रशंसा की। तत्पश्चात् डाक्टर ने उनकी चिकित्सा की।

दिन के 11 बजे स्वामीजी का श्वास बढ़ने लगा और उन्होंने शौच जाने को कहा। चार लोगों ने उन्हें उठाया और शौच करने की चौकी पर बिठा दिया। वे शौच गये। तत्पश्चात् उनको लाकर पलंग पर लिटा दिया गया। स्वामीजी से जब पूछा गया कि अब आपका चित्त कैसा है, तो उन्होंने कहा—

'एक मास के पश्चात् आज का दिवस आराम का है।' स्वामीजी ने 4 बजे आत्मानन्दजी को बुलाया और उनसे कहा—'आत्मानन्द! क्या चाहते हो?' आत्मानन्दजी ने कहा—'हम तो ईश्वर से यही चाहते हैं कि आप अच्छे हो जायें।' स्वामीजी ने कहा—'यह देह है, इसका क्या अच्छा होगा।' ऐसा कहकर स्वामीजी ने हाथ बढ़ाकर उनके सिर पर रखा और कहा कि आनन्द से रहना। फिर स्वामीजी ने गोपालगिरिजी को बुलाकर उनसे भी वही पूछा। गोपालगिरिजी ने भी वही उत्तर दिया कि हम आपको अच्छा होता देखना चाहते हैं। स्वामीजी ने उन्हें भी यही कहा कि आनन्द से रहना।

स्वामीजी की ऐसी अवस्था देखकर सभी लोग उनके सामने आकर खड़े हो गये। स्वामीजी ने सभी पर अपनी कृपादृष्टि डाली। इसी प्रकार स्वामीजी से बातचीत करते 5 बज गये। साढ़े पांच बजे स्वामीजी ने चारों ओर के द्वार खुलवा दिये। उस समय पाण्डे रामलालजी भी आ गये। स्वामीजी ने पूछा—'कौन-सा पक्ष, क्या तिथि और क्या वार है?' किसी ने उत्तर दिया—'कृष्णपक्ष का अन्त और शुक्लपक्ष की आदि अमावस, मंगलवार है।' यह सुनकर स्वामीजी ने अपनी दृष्टि को चारों ओर घुमाया और फिर पहले वेदमन्त्र पढ़े, तत्पश्चात् संस्कृत में कुछ ईश्वर की उपासना की। फिर आर्य भाषा में प्रार्थना करके गायत्री मन्त्र का पाठ किया। इस महामन्त्र को जपते-जपते मौन हो गये। चिरकाल तक निश्चल समाधिस्थ रहे। उस समय उनके मुखमण्डल पर एक स्वर्गीय तेज झलक रहा था। समाधि की अवस्था समाप्त कर स्वामीजी ने आंखें खोलीं और कहा—'हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर, तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा! तूने अच्छी लीला की।' स्वामीजी सीधे लेटे थे, परन्तु इन शब्दों का उच्चारण करते ही स्वामीजी ने स्वयं करवट ली और एक प्रकार से श्वास को रोककर एक साथ ही बाहर निकाल दिया।

महाराणा उदयपुर की स्वामीजी से अत्यन्त प्रीति थी। स्वामीजी की रुग्णता का समाचार सुनकर उन्होंने मोहनलालजी को भेजकर कहलवाया था कि यदि उनका शरीर छूट जाये, तो मृत शरीर को किसी प्रकार 4-5 दिन रखा जाये, जिससे मैं और अन्य राजा उनके अन्तिम दर्शन कर सकें। परन्तु समाज ने इस भय से कि यदि इस मृत शरीर को इतनी अवधि तक रखा, तो डाक्टर पेट चीरेगा, स्वीकार नहीं किया और उसी दिन ही दाह करने की सम्मति हो गयी। अन्त में अगले दिन, अर्थात् 31 अक्टूबर को प्रातःकाल स्वामीजी के

मृतक शरीर के लिए बैकुण्ठी तैयार की गयी और मृतक शरीर को स्नान करा, उस पर चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेप कर, वस्त्र पहनाकर बैकुण्ठी में लिटा दिया गया। तब सब लोगों ने मिलकर उनके चारों ओर खड़े होकर वेदमन्त्रों का पाठ किया। वेदमन्त्र पढ़े जाने के बाद बैकुण्ठी उठाई गयी। सैकड़ों लोग आंसू बहाते हुए अर्थी के साथ-साथ चल पड़े। उस समय सबसे आगे रामानन्दजी, गोपालगिरिजी, वृद्धिचन्दजी और मुन्नालालजी वेदमन्त्रों का पाठ उच्च स्वर से पढ़ते जा रहे थे। इस प्रकार यह शव यात्रा आगरा द्वार से प्रवेश करके अजमेर नगर के बाजारों और चौकों से होते हुए नगर के बाहर दक्षिण भाग में पहुंची। बैकुण्ठी रखकर लोग वेदी बनाने लगे, उस समय पण्डित भागारामजी ने देखा कि इस समय सब लोग शोकाकुल हैं। उन्हें धीरज बंधाने के लिए भागारामजी ने स्वामीजी की विद्या, परोपकारिता, देशहितैषिता की प्रशंसा में उत्तम व्याख्यान दिया। तत्पश्चात् रायबहादुर पण्डित सुन्दरलालजी ने भी दिल कड़ा करके व्याख्यान देना चाहा, परन्तु थोड़ा-सा कथन करने के पश्चात् चुप हो गये।

इसी अवधि में वेदी भी तैयार हो गयी। वेदी बन जाने पर दो मन चन्दन और दस मन पीपल की समिधा से चित्ता बनाई गयी। आर्य-पुरुषों ने अपने गुरु के शरीर को चन्दन आदि की काष्ठ वेदी पर रखा। तत्पश्चात् ऊपर से कपूर और चन्दन आदि काष्ठ रखा। फिर रामानन्दजी, आत्मानन्दजी ने वेदी के काष्ठों में अग्नि प्रदीप्त की और 'संस्कारविधि' के अनुसार वेदमन्त्रों का पाठ कर आहुति देना आरम्भ किया। इस प्रकार आहुतियों से स्वामीजी का पंच तत्त्वों का बना शरीर अपने भक्तों के देखते-देखते परमात्मा में लीन हो गया।

स्वामीजी स्वयं बालब्रह्मचारी थे, इसलिए वे आत्मिक शिक्षा के साथ-साथ शारीरिक शिक्षा पर भी बहुत बल देते थे। शारीरिक स्वास्थ्य का वह प्रत्यक्ष प्रमाण थे। इसलिए उन्होंने आर्यसमाज के नियमों में एक नियम सम्मिलित किया कि संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना। स्वामीजी स्वयं भी शारीरिक व्यायाम करते थे और अत्यन्त शूरवीर ब्रह्मचारी थे। उनकी नजर में विवाहिता स्त्री से भी ऋतुगामी होने के अतिरिक्त सम्बन्ध अनुचित था।

वह वीर्यरक्षा के बड़े समर्थक, स्वास्थ्य फैलाने के बड़े सहायक और

स्वास्थ्यरक्षा के नियमों का कड़ाई से पालन करने वाले थे। वे चाहते थे कि प्रत्येक मनुष्य शारीरिक और आत्मिक रूप से स्वस्थ हो।

स्वामीजी ने गोरक्षा के लिए भी अनेक कार्य किये। वे गाय, बैल आदि को न तो आप मारते थे और न ही किसी को मारने देते थे। उनका कहना था कि गो-वध से राजा और प्रजा दोनों की ही हानि होती है। एक गाय को मारने या मरवाने से चार लाख बीस हजार मनुष्यों के सुख की हानि होती है। यह बात स्वामीजी ने अपनी 'गोकरुणानिधि' पुस्तक में भली-भांति स्पष्ट की है।

स्वामीजी योग पर भी बहुत बल देते थे। उनका मानना था कि जिस प्रकार विद्या एक शक्ति है, उसी प्रकार योग भी आत्मिक शक्ति है। योगविद्या द्वारा योगी लोग ईश्वरदर्शन करते हैं। स्वामीजी ने योग से आत्मबल किस प्रकार बढ़ जाता है, इस विषय पर कहा—'हे जगदीश्वर! जिससे सब योगी लोग इन सब भूत, भविष्यत्, वर्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलकर सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है, जिसमें ज्ञान क्रिया है, पांच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा युक्त रहता है, उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं, वह मेरा मन योग-विज्ञान युक्त होकर विघ्न आदि क्लेशों से पृथक् रहे।'

स्वामीजी चारों वर्णों के विषय में कहते थे कि मनुष्य जिस प्रकार का कर्म करता है, उसका वर्ण वैसा ही होता है, अर्थात् वर्ण कर्मों से होते हैं, जन्म से नहीं। उदाहरणार्थ, जो मनुष्य ब्रह्मविद्या जानने वाला होता है, वह ब्राह्मण है; जो मनुष्य युद्ध करे, वह क्षत्रिय होता है; जो लेन-देन, हिसाब-किताब करे, वह वैश्य है और जो सेवा करे, वह शूद्र है। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय या शूद्र का कार्य करता है, तो उसे ब्राह्मण नहीं मानना चाहिए।

स्वामीजी विवाह के समय स्त्री-पुरुष की आयु का ध्यान रखने के लिए भी कहते थे। उनका कहना था कि विवाह के समय पुरुष की आयु कम-से-कम 24 वर्ष और स्त्री की आयु कम-से-कम 16 वर्ष होनी चाहिए। विवाह के समय स्त्री-पुरुष इससे कम आयु के कदापि नहीं होने चाहिए और विवाह अपनी रुचि के अनुसार ही करना चाहिए; क्योंकि पुरुष को स्त्री से और स्त्री को पुरुष से जीवन-भर निर्वाह करना होता है। जब वे अपनी रुचि के अनुसार एक-दूसरे के रूप, आकार, प्रकार और चाल-चलन तथा अन्य विषयों को देख लेंगे, तो फिर सम्भव नहीं कि स्त्री और पुरुष में परस्पर झगड़े की कोई

अवस्था उत्पन्न हो। नहीं तो केवल माता-पिता का पसन्द किया हुआ सम्बन्ध स्त्री-पुरुष को कब पसन्द हो सकता है?

विधवा स्त्री अथवा विधुर पुरुष के पुनर्विवाह के विषय में स्वामीजी का कहना था कि विधवा स्त्री का पुनर्विवाह होना चाहिए और अपनी स्त्री के जीवित रहते हुए दूसरे विवाह का पात्र नहीं है, परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका अधिकार है कि वह पुनः विवाह करे या न करे। ऐसा ही अधिकार विधवा स्त्री को भी होना चाहिए।

स्वामीजी स्त्रियों की विद्या पर भी बहुत बल देते थे। वे कहते थे कि बिना विद्या के मनुष्य की बुद्धि पशु की बुद्धि के तुल्य होती है। विद्या के बल पर ही स्त्री बुद्धिमती होकर प्रत्येक प्रकार के दोषों से रहित और पवित्र रह सकती है।

आज स्वामीजी हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु उनके स्वप्नों को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलकर उन्हीं के कार्यों को आगे बढ़ाया जाये, ताकि हम लोग पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो सकें।

दयानन्द सरस्वतीजी द्वारा रचित ग्रन्थ

सन्ध्या	1863
भागवतखण्डन अपर नाम पाखण्ड खण्डन	1866
अद्वैतमतखण्डन	1870
सत्यार्थ प्रकाश (प्रथम संस्करण)	1875
सत्यार्थ प्रकाश (द्वितीय संस्करण)	1884
पञ्चमहायज्ञविधिः (संशोधित)	1877
वेदविरुद्धमतखण्डन	1875
शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण	1875
वल्लभाचार्यमतखण्डन	1874
आर्याभिविनयः	1876
वेदान्तध्वान्तिनिवारण	1876
संस्कार विधिः	1877
संस्कार विधिः (द्वितीय संस्करण)	1884
वेदभाष्यम् (नमूने का अंक)	1876
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	1878
ऋग्वेद भाष्य	1877 से 1899 पर्यन्त
यजुर्वेद भाष्य	1878 से 1889 पर्यन्त
आर्योद्देश्यरत्नमाला	1877
भ्रान्तिनिवारण	1880
संस्कृतवाक्यप्रबोधः	1879
व्यवहारभानु	1879
गोतम अहल्या की कथा	1879
भ्रमोच्छेदन	1880
गोकरुणानिधि	1880

वेदांगप्रकाश (14 भाग)	1879 से 1883 पर्यन्त
काशी शास्त्रार्थ	1880
हुगली शास्त्रार्थ	1873
सत्यधर्मविचार (मेला चांदापुर)	1880
जालन्धर शास्त्रार्थ	1877
सत्यासत्यविवेक (बरेली शास्त्रार्थ)	1879
चतुर्वेदविषयसूची	1971

आर्यसमाज के संस्थापक

महर्षि दयानन्द सरस्वती

उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने देश के पुनर्जागरण के लिए कई कार्य किये। इनमें से एक हैं, दयानन्दजी जिन्होंने 10 अप्रैल, 1875 को आर्यसमाज की स्थापना कर राष्ट्रीय पुनर्जागरण का कार्य किया। दयानन्दजी बाल ब्रह्मचारी एवं महान् योगी थे। संस्कृत, अरबी, हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान तथा ओजस्वी वक्ता थे। महर्षि दयानन्द ने धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक विचारों की अज्ञान निद्रा में सोये हुए भारत को जागृत किया।

प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे ही महान् सेवक, देशभक्त व संस्कृति के उन्नायक का जीवन-चरित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

ISBN 81-8393-189-8

3 981839 318986

मूल्य 50/-

साधना पॉकेट बुक्स